॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६७,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११, सितम्बर १९८५

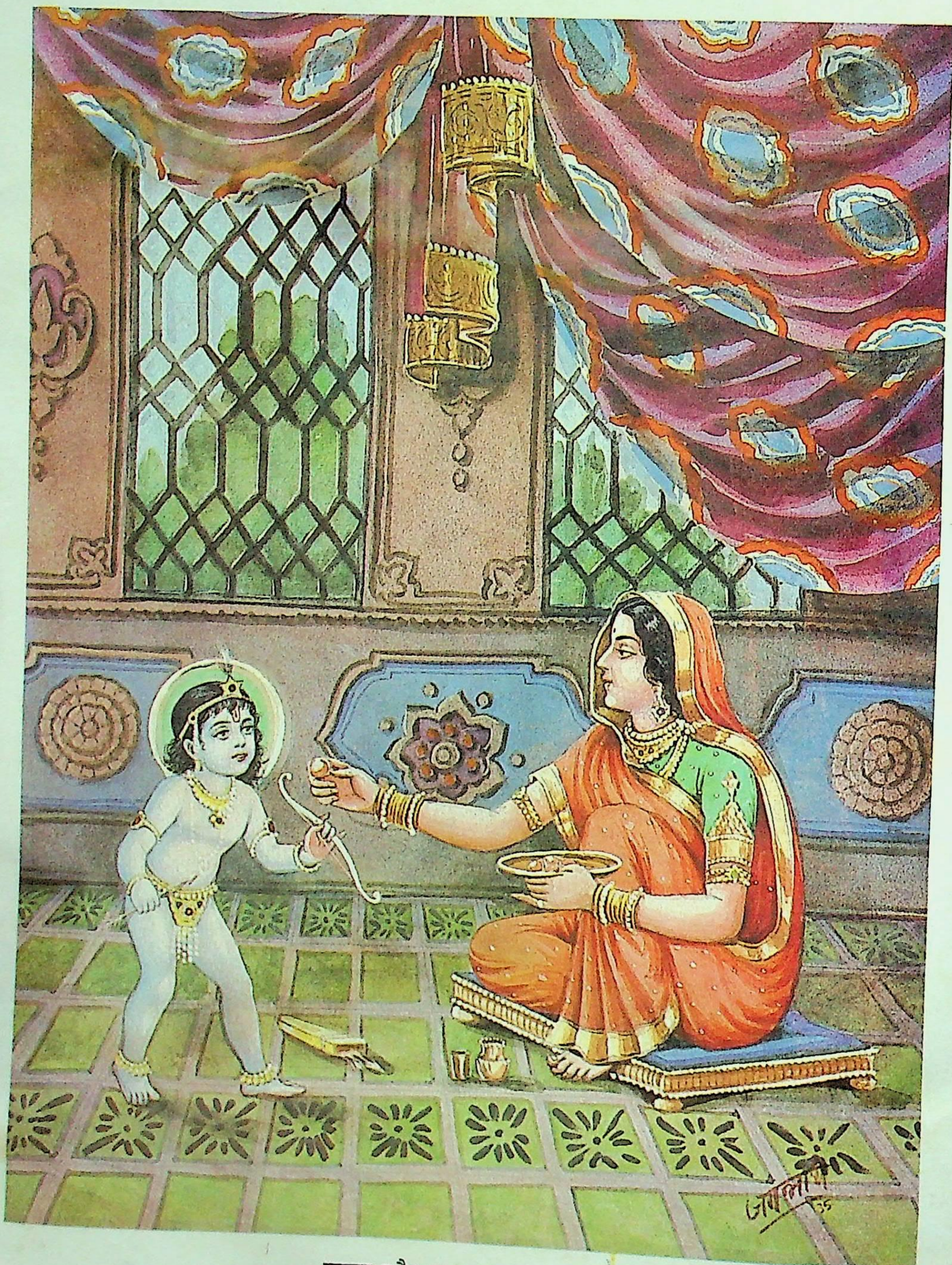
चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.००रु०
विदेशमें १० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.००रु०
विदेशमें ६०.००रु०
(४ पौण्ड)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



माता कौसल्या का वात्सल्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५९ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११, सितम्बर १९८५ ई० { संख्या ९
पूर्ण संख्या ७०६

रघुवरकी बालछबि

रघुबर बाल छबि कहौं बरनि ।
सकल सुखकी सींव, कोटि-मनोज-सोभाहरनि ॥
बसी मानहु चरन-कमलनि अरुनता तजि तरनि ।
रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुनु करनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि ।
जनु सुभग सिंगारसिसु तरु फर्‌यौ है अदभुत फरनि ॥
× × ×
पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ-घरनि ।
बसति तुलसी-हृदय प्रभु-किलकनि ललित लरखरनि ॥

कल्याण

मन्दिरमें विराजित ठाकुरजीकी नित्य पूजा करनेवाले, अचल श्रद्धा एवं निश्चल प्रेमसे पूजाकी विविध सामग्रीको अर्पण करके श्रीरामको रिझानेवाले भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीने पूजाका एक अत्यन्त सुन्दर क्रम बताया है। वे कहते हैं—'रे मन ! समस्त दुःख-द्वन्द्वोंको नाश कर देनेवाले आनन्दमय प्रभुकी तू (जैसी आगे बतायी जाती है,) ऐसी आरती (पूजा) किया कर । इन्द्रियोंके नियामक प्रभुने ऐसी आरती करनेकी शक्ति तेरी इन्द्रियोंमें दे रखी है, उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर तू इस प्रकारकी आरती आरम्भ कर। देख, तू धूप देना तो जानता ही है पर आज एक नया धूप तुझे बताता हूँ। जड़, चेतन—सारा विश्व प्रभुका ही रूप है ! वे सर्वत्र निरन्तर विराजमान हैं—इस वासना (सुगन्ध) की धूप तू प्रभुको समर्पित कर । इस धूपसे प्रभुका विश्वरूप-सा मन्दिर सुवासित हो जायगा । तेरी भी 'यह अपना, यह पराया; यह अच्छा, यह बुरा—इस प्रकारकी भेदरूप दुर्गन्ध मिट जायगी । ऐसी धूप देकर फिर स्वरूप-ज्ञानका दीपक जला दे। प्रभुके साथ सदा-सर्वदा संयुक्त रहनेकी अनुभूति कर ले। इस प्रदीपके आलोकमें तेरे ऊपर छाया हुआ क्रोध, मद, मोह आदिका अँधेरा नष्ट हो जायगा; इतना ही नहीं, इस ज्ञानके प्रकाशमें तेरे समीप रहनेवाले सपरिकर अभिमानरूप प्रबल डाकूकी शक्ति भी नष्ट हो जायगी। यही डाकू तो तेरी की हुई पूजाका फल लूट लेता है। इस ज्ञानकी ज्योतिके सामने फिर इसकी शक्ति ठहर नहीं सकती, वह क्षीण हो जायगी।

अब निश्चिन्त होकर भाव (भक्ति) का नैवेद्य अर्पण कर। तेरी प्रत्येक चेष्टा प्रभुको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे ही हो, इस निर्मल भावका ही तू भोग धर। तेरा यह सुन्दर नैवेद्य प्रभुको अत्यन्त संतोषकर होगा । यह करके फिर प्रेमका ताम्बूल सामने रख दे। तू इतना कोमल, सरस, सुगन्धित, दोषहारी बन जा कि प्रभु तुझे अपने ओठोंपर धारण कर लें। तू उनकी स्मृतिका विषय बन जा। इसका परिणाम यह होगा कि दुःख तुझे छू नहीं सकेंगे, संशय तुझे चञ्चल नहीं बना सकेगा। उनकी अनन्त शोभा एवं असीम सौन्दर्यके प्रवाहसे तू इतना भर जायगा कि अपार संसारकी वासनाओंके बीज फिर तुझमें ठहर नहीं सकेंगे, वे बह जायँगे। फिर तुझे यह अनुभव होगा कि अभी-अभी जो दस इन्द्रियरूपी दस बत्तियाँ अशुभ-शुभ कर्मरूपी घृतमें सनी थीं, उनका आसक्तित्यागरूप अग्निसे संयोग हो गया है, उनमेंसे सत्त्वगुणरूपी लौ निकल रही है, वह लौ भक्ति, वैराग्य, विज्ञानमें परिणत हो रही है। बस, इसी भक्ति-वैराग्य-विज्ञानरूपी दीपसे तू जगन्निवास प्रभुका नीराजन (आरती) कर, अपने भक्ति, वैराग्य, विज्ञान—ये सब भी तू उन्हें समर्पित कर दे। रे मन ! धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, नीराजनसे पूजा हो चुकी। अब तो तू अपने हृदयके मन्दिरमें शान्तिकी शय्या बिछा दे, शान्तिसे हृदयको भर ले। इस शान्तिके पलँगपर ही प्रभु श्रीराघवेन्द्र सुखसे शयन करेंगे। देख, उनकी सेवाके लिये तू अपने हृदय-मन्दिरमें क्षमा एवं करुणा आदिके रूपमें परिचारिकाएँ भी नियुक्त कर दे। इतना करके फिर झाँक कर देख । तुझे दीखेगा कि वहाँ प्रभु हैं एवं उनकी ज्योतिसे हृदय-मन्दिर चम-चम चमक रहा है ! 'मैं-मेरा, तू-तेरा' मायासे उत्पन्न भेदका यह अँधेरा सदाके लिये मिट गया है। मन ! तू जान ले, यही वह आरती है, जिसमें महान् तत्त्वदर्शी ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी, ध्यानी सदा लगे रहते हैं और प्रभुकी पूजा करते रहते हैं। ऐसी पूजा जो भी करता है, वह कामादि समस्त दोषोंसे मुक्त होकर तरण-तारण बन जाता है।—**'शिव'**

चित्त-शुद्धि

(तत्त्वदर्शी महात्मा तैलंग स्वामीका उपदेश)

धर्मका सार चित्त-शुद्धि है। जो धर्मके अनुरागी अथवा सनातन-धर्मके यथार्थ मर्मका अन्वेषण करनेके इच्छुक हैं, उन्हें इस तत्त्वके प्रति विशेष ध्यान रखना चाहिये।* जिसकी चित्त-शुद्धि नहीं, उसका कोई धर्म नहीं। चित्त-शुद्धि केवल सनातन-धर्मका ही सार है, सो बात नहीं है। यह सभी धर्मोंका तत्त्व है। जिसका चित्त शुद्ध है, वही श्रेष्ठ हिंदू, श्रेष्ठ मुसलमान, श्रेष्ठ ईसाई आदि हैं। जिसकी चित्त-शुद्धि नहीं, वह किसी भी धर्मके अनुयायियोंमें धार्मिक कहा जाकर गण्य नहीं हो सकता। चित्त-शुद्धि ही धर्मका मर्म है। यह अखण्ड दार्शनिक सिद्धान्त है।

चित्त-शुद्धि क्या है—चित्त-शुद्धिका पहला लक्षण इन्द्रियोंका संयम है। इन्द्रिय-संयम—इस वाक्य द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि सब इन्द्रियोंका एक बार ही उच्छेद अथवा ध्वंस करना होगा। इन्द्रियोंको संयत करनेका अभिप्राय इन्द्रियोंको अपने वशमें करना है, स्वयं उनके वशमें होना नहीं। इसीका नाम इन्द्रिय-संयम है। भोजन-लोलुपता एक प्रकारसे इन्द्रिय-प्रवृत्ति है, किंतु इन्द्रियोंको संयत करनेमें यह नहीं समझना चाहिये कि भोजनका त्याग कर दिया जाय; केवल वायु-भक्षण किया जाय अथवा गला-सड़ा दूषित आहार करके दिन व्यतीत कर दिया जाय।

शरीर एवं स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये जिस परिमाणमें और जिस प्रकारके आहारकी आवश्यकता है, वही करना चाहिये। इससे इन्द्रिय-संयममें कोई बाधा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उत्तम आहारादि अविधेय नहीं है; यदि उसमें स्पृहा—इच्छा न रहे। मोटी बात यह है कि इन्द्रियोंकी आसक्तिका अभाव ही इन्द्रिय-संयम है, जो बहुत कुछ आहारादिपर निर्भर है।

आत्मरक्षार्थ अथवा धर्मरक्षार्थ अर्थात् ईश्वरीय नियम-रक्षार्थ जितनी इन्द्रियोंकी चरितार्थता आवश्यक है, उसके अतिरिक्त जो इन्द्रिय-परितृप्तिकी अभिलाषा करता है, इन्द्रिय-संयम उसके वशकी बात नहीं। जो इन्द्रिय-परितृप्तिमें सुखानुभव नहीं करता, आकाङ्क्षा नहीं रखता, केवल धर्मरक्षाकी भावना रखता है, वह संयतेन्द्रिय है, यह समझना चाहिये।

ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जो इन्द्रिय-परितृप्तिसे विमुख रहनेपर भी अपने मनको शुद्ध नहीं कर पाते। वे लोकलज्जासे अथवा लोगोंमें प्रसिद्धिके लिये किंवा ऐहिक उन्नतिके लिये अथवा धर्मके भानसे पीड़ित होकर जितेन्द्रियकी तरह कार्य करते हैं, किंतु उनके भीतर इन्द्रियोंकी ज्वाला धधकती रहती है, जन्मसे मृत्यु-पर्यन्त वे स्खलितपद न होकर भी (अपानवायुको रोक रखनेपर भी) इन्द्रिय-संयमसे बहुत कुछ दूर ही रहते हैं। जो बार-बार इन्द्रिय-तृप्तिके लिये उद्योगी एवं कृतकार्य हैं, उनसे ऐसे धर्मात्माओं-का भेद बहुत ही थोड़ा है। दोनोंको ही समानरूपसे नरककी अग्निमें दग्ध होना पड़ता है। इन्द्रिय-परितृप्ति करो अथवा न करो, जब भ्रमसे भी इन्द्रिय-परितृप्तिकी बात मनमें न आवे, आत्म-रक्षार्थ अथवा धर्म-रक्षार्थ इन्द्रियोंको चरितार्थ करना पड़े तो भी उसको दुःखके अतिरिक्त सुखका विषय न माना जाय। उसी स्थितिमें यह समझा जायगा कि इन्द्रिय-संयम हुआ है। इसके अभावमें योगाभ्यास, तपस्या, उपासना आदि कठोर कार्य सभी वृथा हैं।

* वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ (मनुस्मृति २। ९७)

केवल योग अथवा तपस्या करनेसे इन्द्रिय-संयमरूप कार्य पूरा नहीं होता । कार्यक्षेत्रमें—संसार-धर्ममें ही इन्द्रिय-संयम हो सकता है। प्रतिदिन उनका निवास स्वीकार करनेवाला इन्द्रिय-परितृप्तिके उपादानोंसे दूर जाकर—सब विषयोंसे निर्लिप्त हो अपने मनमें यह भले ही समझ ले कि मैं इन्द्रियोंको जीतनेवाला हो गया हूँ, किंतु जैसे मिट्टीका पात्र अग्निमें पका नहीं तो वह छूते ही टूट जाता है, वैसे ही इस प्रकारका इन्द्रिय-संयम भी लोभके स्पर्शमात्रसे ही ठहर नहीं सकता । इसके प्रमाण बहुत हैं । स्वर्गसे एक अप्सरा आयी और उसी क्षण ऋषि-राजका योग भङ्ग हो गया, अधिक धैर्य धारण करनेमें असमर्थ होकर अन्तमें वे इन्द्रिय-परितृप्ति करके ही शान्त हुए ।

जिस देशमें जो वस्तु नहीं मिलती, उस देशके लोग तो उस वस्तुको खाते नहीं, अथवा उसे व्यवहारमें नहीं लाते, परंतु यदि वही वस्तु कभी मिल जाय और उसे बड़े आग्रहके साथ खायें एवं व्यवहारमें लायें तो इसको उस वस्तुका त्याग नहीं कहा जा सकता । जो प्रतिदिन इन्द्रिय-चरितार्थ करनेके उपयोगी उपादानोंके संसर्गमें आये हैं, उनसे युद्धकर कभी जयी और कभी विजित हुए हैं, वही शेषमें इन्द्रिय-जय करनेमें सफल हुए हैं। पराशर अथवा विश्वामित्र ऋषि इन्द्रिय-जय नहीं कर सके । इन्द्रिय-जय करनेमें समर्थ हुए थे—चिरस्मरणीय भीष्म और श्रीराम-भ्राता लक्ष्मण ।

इन्द्रिय-संयम अपेक्षाकृत तुच्छ बात है । उसकी अपेक्षा चित्त-शुद्धिका बड़ा महत्त्व है । बहुतोंकी इन्द्रियाँ संयत हैं, किंतु दूसरे कारणसे उनका चित्त शुद्ध नहीं हुआ है । 'इन्द्रिय-सुख-भोग नहीं करूँगा । किंतु मैं अच्छा रहूँ, मुझे सब प्यार करें'—इस प्रकारकी वासना उनके मनमें बड़ी प्रबल है । मेरे पास धन हो, मेरा मान हो, मेरा यश बढ़े, मैं बड़ा बनूँ, मेरा सौभाग्य हो, मुझे सब धार्मिक और महात्मा मानकर आदर करें—वे सर्वदा ही यह कामना करते हैं । जिससे यह वासना पूरी हो, चिरकाल इसी चेष्टामें—इसी उद्योगमें व्यस्त रहते हैं । इसके लिये वे न करें ऐसा कार्य नहीं, और इससे भिन्न ऐसा विषय नहीं जिसमें मन न लगाते हों । जो इन्द्रियासक्त लोग हैं, उनकी अपेक्षा भी ये निकृष्ट हैं । इनके लिये धर्म कुछ नहीं, कर्म कुछ नहीं, ज्ञान कुछ नहीं और भक्ति कुछ नहीं । ईश्वरको माननेपर भी ईश्वर है या नहीं, इसका उन्हें आत्म-विश्वास नहीं । इन्द्रिय-आसक्तिकी अपेक्षा यह स्वार्थपरता चित्त-शुद्धिमें बड़ी बाधक होती है । परार्थपरताके ग्रहण और वासनाके त्यागके बिना चित्त-शुद्धि नहीं होती । जब अपने लिये सुखान्वेषण करोगे, उसी प्रकार दूसरेके लिये भी सुख ढूँढ़ोगे*, जब अपने-आपसे दूसरेको भिन्न न समझोगे, जब अपनोंकी अपेक्षा दूसरोंको अपना मानोगे, जब क्रमशः अपने-आपको भूलकर दूसरेको सर्वस्व समझोगे, जब दूसरेमें अपने आत्माको निमज्जित रख सकोगे, जब तुम अपने आत्माको विश्वव्यापी विश्वमय अनुभव करोगे, तभी यह समझना चाहिये कि चित्त-शुद्धि हुई है । यह बिना हुए कौपीन धारणकर संसार-परित्यागपूर्वक भिक्षा-वृत्तिके अवलम्बनद्वारा घर-घरमें अलख-जगनिया **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहने या हरिनामकी ध्वनि करते हुए घूमनेसे चित्तकी शुद्धि नहीं होगी ।

पक्षान्तरमें राज-सिंहासनपर बहुमूल्य रत्न धारणकर बैठनेवाला जो राजा एक भिक्षुक प्रजाजनके दुःखको अपने दुःखकी तरह समझेगा, निःसंदेह उसकी चित्त-शुद्धि हुई है । जो सब शुद्धियोंका स्रष्टा है, जो शुद्धिमय है, जिसकी कृपापर शुद्धि अवलम्बित है, उसमें प्रगाढ़ भक्ति होना चित्त-शुद्धिका प्रधान लक्षण है ।

* 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (गीता ६।३२)

भक्ति ही चित्त-शुद्धिका और धर्मका मूल है। चित्त-शुद्धिका पहला लक्षण हृदयमें शान्ति, दूसरा लक्षण दूसरेको प्यार करना और तीसरा लक्षण ईश्वरमें भक्ति है। जिन व्यक्तियोंके लिये इस प्रकार शान्ति, प्रीति और भक्तिका योग होता है, उनके हृदयमें कोई कामना नहीं रहती। यहाँतक कि उन्हें सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ देनेकी इच्छा प्रकट की जाय तो भी वे भगवत्सेवाको छोड़कर और कुछ नहीं चाहेंगे। धनकी आशा छोड़, श्रद्धायुक्त एवं निष्काम हो हिंसा-त्यागपूर्वक पूजा-जपद्वारा उसके स्वरूपका दर्शन, स्पर्श, स्तवन, वन्दन, सब प्राणियोंमें उसीका भाव-चिन्तन करना, धैर्य-वैराग्य धारण करना, महान् व्यक्तियोंका सम्मान करना, दीनोंके प्रति दया एवं आत्म-तुल्य व्यक्तियोंके साथ मैत्री, अन्तरिन्द्रियोंका दमन, बाह्येन्द्रियोंका निग्रह, आत्म-विषयक-श्रवण, भगवन्नाम-संकीर्तन, सरलता, सत्सङ्ग, निरहंकारिता-प्रदर्शन आदि गुणोंद्वारा चित्त-शुद्धि होती है और ऐसे सदाचारी लोग बिना प्रयत्नके उसे प्राप्त कर जिस प्रकार गन्ध वायुयोगद्वारा अपने स्थानसे आकर घ्राणका आश्रय लेता है, उसी प्रकार भक्ति-योगसे युक्त चित्त बिना यत्नके परमात्माको आत्मसात् कर लेता है।*

वह सब भूतोंका आत्मस्वरूप होकर सब प्राणियोंमें अवस्थित है।† मनुष्य जबतक सब प्राणियोंमें अवस्थित उस परमात्माको अपने हृदयमें न पहचान सके, तबतक अपने कर्ममें रत रहकर वह उपासना अथवा जप करता रहे। जो व्यक्ति अपनेमें और दूसरेमें थोड़ा भी भेद देखता है, जिससे दूसरेका दुःख अपने दुःखके समान अनुभव न हो, उसे ईश्वर और ब्रह्ममय जगत् किस प्रकार है, इसका ज्ञान नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वव्यापी है। वह सब स्थानोंमें—वन, ग्राम, नगर, जल, स्थल, शून्य, पत्थर एवं सकल प्राणियोंमें—आत्माके रूपमें अवस्थान करता है। केवल मुँहसे यह कह देनेसे कि ईश्वर सर्वव्यापी है, कोई फल नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वव्यापी है, यह स्वीकार कर लेनेपर ही यह मानना होगा कि जगत् ब्रह्ममय है। जो ज्ञानके द्वारा यह कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापी है, ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, वे अच्छी तरह समझ सकते हैं कि ब्रह्ममय जगत् किस प्रकार है। ईश्वर क्या पदार्थ है, उसका आकार-प्रकार कैसा है और क्या करनेसे अथवा किस मार्गका अवलम्बन करनेसे उसको प्राप्त किया जाय—आरम्भमें यह बात न धारणामें आ सकती है और न दृष्टिपथमें। यह केवल समझ लेना होगा। समझने या जान लेनेका प्रयत्न करनेसे ही हृदयंगम होकर पहले कारण प्रत्यक्ष होगा और बादमें दर्शन। वह दिन-रात अपने बहुत समीप, बिल्कुल सामने ही है। हम अन्तर्दृष्टिद्वारा देखना नहीं चाहते, इसीलिये उसे देख नहीं सकते। चित-शुद्धि उसको प्राप्त करनेका प्रधान साधन है।

---

* (क) 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

—श्रीशंकराचार्यः

(ख) 'न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे।

(ग) 'न मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय न मे लायते— । —बोधसारः

(घ) 'अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादरि भगति लुभाने॥
'जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(श्रीतुलसीकृत रामायण)

† यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईशावास्योपनिषद् ६)

श्रीमद्भागवतमें योगत्रय (४)

[भागवतके एकादश स्कन्धमें आये हुए योगत्रयका विवेचन]

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रायः लोग प्रश्न कर बैठते हैं कि भगवान् शीघ्र **कैसे मिलें ?**

इसका उत्तर यह है कि पपीहाके समान पुकार लगाइये तो भगवान् शीघ्र मिलेंगे। पपीहाको जल देनेवाले बादल तो जड़ हैं, किंतु भगवान् तो दयालु हैं। वे बड़ी जल्दी मिलते हैं। होनी चाहिये हममें दर्शनकी प्यास। भगवान्‌का मिलना कोई विशेष कठिन नहीं प्रतीत होता। वे तो दयासागर हैं, अवश्य मिलते हैं और मिलेंगे ही। हम उनसे मिलना चाहेंगे तो वे हमसे अधिक चाहेंगे। अपनी शक्तिभर सदा चेष्टा करनी चाहिये। यदि हम चाहें ही नहीं तो उनका क्या अपराध है ? भगवान् जब यह देख लेते हैं कि यह तो धीरे-धीरे मार्गपर आ जायगा, तब वे उसके लिये निश्चिन्त हो जाते हैं और जो असमर्थ हो जाता है उससे तो वे स्वतः ही मिलने जाते हैं। जब हम शक्ति और चेष्टा दोनोंको काममें लें तो विलम्ब कैसे होगा ? उनसे मिलनेका उपाय तो प्रेम ही है। हमें ऐसी लगन चाहिये कि भगवान् शीघ्र कैसे मिलें, भगवान् जल्दी कैसे मिलें तो वे शीघ्र मिलते हैं। लगन अत्यन्त जोर-की लगानी चाहिये, किंतु सच्ची लगन तो ऐसी होती है कि 'तन मन दीजै खोय' तथा लगन कहते हैं **'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः', 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्'** को और इससे भी जल्दीके लिये भगवान् कहते हैं कि **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।'** और भी कहते हैं—

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।'

जब इस प्रकार भगवान्‌के वचन हैं, तब हमें ऐसी बातोंपर विश्वास कर शीघ्र ही लगन लगानी चाहिये।

मनुष्यको स्फुरना होती है सो इसकी चौकसी करनी चाहिये। मन यदि कहीं किसी फालतू वस्तुको पकड़ ले तो उसे वहाँसे हटाकर समझाना चाहिये। इस प्रकार सुधार करनेसे भी शीघ्र उद्धार होता है।

मनुष्यके हृदयमें फुरना होती है पर उस समय चञ्चलता विशेष रहती है। उसका मन कभी हाथी तो कभी घोड़ा और कभी पशु तथा पक्षी, बंदर आदिकी ओर भटकता फिरता है। इसपर ध्यान रखना चाहिये कि यह भगवान्‌को छोड़कर कहीं गया तो नहीं; जिस प्रकार माता छोटे बच्चेका ध्यान कभी नहीं भूलती। वह काम तो सब करती है पर बराबर बच्चेकी याद रखती है। बच्चा मिट्टी खाये या चाकू, कैंची कुछ पकड़ ले तो माता मना कर देती है और बचाती है। यह मन भी बच्चेकी तरह है। इसे तो सदा बच्चेके समान ही ध्यान रखते हुए सँभालता रहे; क्योंकि माताका बच्चा यदि कुछ आग आदि पकड़ ले तो वह अपनी ही हानि करता है पर यह मन-बच्चा तो अपनी माँ-(आत्मा-) को नरकमें गिराता है, बार-बार जन्म-मरण-के चक्करमें डालता है; क्योंकि यह भी उसी बच्चेके समान लाभ-हानि कुछ नहीं सोचता। इसलिये इसकी सदा सँभाल रखनी चाहिये।

जैसे माता रातको बच्चेको लेकर सो जाती है, उसी प्रकार हम भी इस मन-बच्चेको लेकर सो जाया करें। माताको ध्यान रहता है कि कहीं बच्चा गिर न जाय। वह चौंककर झट सँभाल लेती है। इसी प्रकार हमें भी मन-बच्चेको स्वप्न दीखनेपर बुरे-स्वप्नमें नहीं गिरने देना चाहिये और चौंककर शीघ्र सँभाल लेना चाहिये।

यदि किसी सोलह वर्षकी लड़कीको बच्चा हो जाय तो वह पहले बच्चेके समयमें ही उसे सँभालना सीख जाती

है और दूसरे समय तो कुछ सिखाना भी नहीं पड़ता; किंतु हम तो प्रतिदिन शिक्षा पाते रहनेपर भी इस मनको नहीं सँभाल सकते। जैसे बच्चा बड़ा हो जाता है, सयाना बन जाता है, उसी तरह यह मन भी जब सिखाते-सिखाते बड़ा सयाना हो जाता है, तब फिर इसको विशेष सँभालना नहीं पड़ता। सत्संगमें साधु पुरुष ही रहते हैं। वे उपराम रहा करते हैं। इसलिये हम जब मनको सत्संगमें बैठायें तो यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यह बराबर बैठा रहे; क्योंकि साधु-वृत्तिमें दया है; पर शासन नहीं। इसलिये यह भागता रहता है।

परमात्मामें इतना रस और आनन्द है कि कुछ कहा नहीं जाता। वह अमृत है, यदि उसको प्राप्त करना हो तो साधन कीजिये और अमृत पीजिये। जब अमृतका स्वाद प्राप्त हो जाता है, तब उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती। देखो, बीड़ी-तमाखू बेचनेवाले पहले मुफ्त बाँटते हैं, पर जब लेनेवालोंकी पीने-खानेकी आदत पड़ जाती है, तब उन्हींसे खरीदते हैं। बस, इसी प्रकार मायाको जानिये। भगवान्‌का ध्यान पहले ही कठिन-सा प्रतीत होता है, पीछे अभ्याससे सरल हो जाता है।

हमारे कुकर्म आदि जड़ होनेपर भी चेतनके समान काम करते हैं। प्राण जड़ है, पर काम चेतनका करता है। वह झट भूख-प्यासकी खबर दे देता है। हमें बार-बार जो बुरे संस्कार आते हैं उनका कारण हमारा पूर्वका चिन्तन ही है। इसलिये उस अभ्यासको छोड़नेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। जब कोई भाई एकान्तमें बैठकर भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब वहाँ कुसंस्कार शत्रुरूपमें आकर बाधा देते हैं। उसका प्रभाव यह पड़ता है कि मन उकताने लगता है और कहता है कि जल्दी करो। जब बुद्धिद्वारा पढ़ी-सुनी बातोंका विचार करता है कि आज तो ध्यान करना है, तब यह कुबुद्धि आकर कहती है कि अभी क्यों करते हो, पीछे आकर कर लेंगे; क्योंकि यह सामनेका काम खराब हो जायगा। बस, फिर तो हाँ-में-हाँ मिल गयी और ध्यान नहीं होता। हमारी स्वभाववृत्ति इतनी बुरी है।

इसलिये जब ध्यानमें बैठिये, तब आलस्य-विक्षेप-वाली वृत्तियोंको देखते रहिये कि वे मेरे पास तो नहीं हैं। सब दूरसे ही नष्ट हो रही हैं। जो दृढ़तासे ध्यान करता है, स्वभाव उसका कुछ नहीं बिगाड़ता। हमारे शत्रु स्वभाव और आसक्ति हैं। ये मनको भुलावे-में डाल देते हैं, जिससे हमारा पतन हो जाता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—**'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।'** जहाँ कामरूप शत्रुका नाश हुआ कि अटल शान्ति प्राप्त हो जाती है। जब प्रभुमें प्रेम बढ़ने लगता है, तब अधिक प्रेम होनेसे भगवान् बिना मिले रह नहीं सकते।

महापुरुषोंकी दुर्लभताके सम्बन्धमें तुलसीदासजी कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

इस प्रकार सत्संगकी महिमा बतलायी गयी। अब जिन संतोंसे सत्संग प्राप्त होता है उनके लिये कहते हैं—**'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'** और जहाँ संत मिले कि जन्म-जन्मान्तरोंका अन्त हो गया। यदि कहो कि हमारे जन्मोंका तो अन्त आता ही नहीं तो यही कहना पड़ेगा कि अभीतक संत मिले ही नहीं। यदि मिले भी हों तो हमने पहचाना नहीं; इसलिये अन्त नहीं हुआ। जब हमें महापुरुषोंका दर्शन हो गया, तब वैसा विश्वास कर लेना चाहिये। यदि विश्वास नहीं करेंगे तो हमारा फिर वही जन्म-मरण होगा। ऐसा केवल मानना ही चाहिये। यदि नहीं माना तो कुछ नहीं होगा। जैसे एक पहाड़ है—उसे चारों ओरसे देखनेमें कभी पूर्व, कभी पश्चिम, कभी उत्तर, कभी दक्षिण—इस प्रकार

वह चारों दिशाओंमें दिखता है; किंतु वह है अचल। केवल हमीं मान लेते हैं कि इस समय वह पूर्वमें है और अब दक्षिणमें। इसी प्रकार परमात्मा अचल हैं। केवल हम इस प्रकार कल्पना करते रहते हैं कि वे गुणातीत हैं, निर्गुण हैं, सगुण हैं, किंतु हम कुछ भी कहें, करें तो भी वे तो कुछ कहते नहीं, केवल आनन्द-रूपमें सदा विराजमान हैं।

जैसे पहाड़में दिशाएँ नहीं हैं, केवल हमारी कल्पना है, इसी प्रकार केवल कल्पनासे हमने अपना जन्म-मरण मान रखा है। हमारा जन्म-मरण होता ही नहीं; क्योंकि गीताजीमें कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा होकर फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी यह नष्ट नहीं होता।'

अतः विश्वास कर लीजिये कि अमुक काम करनेसे हमारा जन्म-मरण नहीं होगा तो नहीं होगा; किंतु अविश्वासके दण्डमें ही हमें जन्म-मरण मिलता है।

यदि कोई अश्रद्धालुओंका संग करेगा तो यदि वह श्रद्धालु होगा तो भी संगके प्रभावसे अश्रद्धालु हो जायगा। इसलिये नास्तिकका कभी संग नहीं करना चाहिये; अपितु यदि एक ओर हाथी आता हो और एक ओर नास्तिक तो हाथीके पैरके नीचे दबकर मर जाना अच्छा, किंतु नास्तिकका संग अच्छा नहीं होता; क्योंकि हाथीसे तो एक ही बार मरण होकर जन्म होगा; परंतु नास्तिकके संगसे तो बार-बार जन्म-मरण होता है।

अपने चित्तको निर्मल बनाइये—**'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।'** संसारमें सुखियोंसे मित्रता, प्रेम करना तथा दुःखीपर दया करना और उसकी दुःख-निवृत्तिका उपाय सोचना, साधु पुरुषोंको देखकर मुग्ध हो जाना और कहना 'वाह अहोभाग्य!' यदि नीच मिल जाय तो उस रास्ते नहीं जाना—ये आचरण साधकोंके लिये हितकारी हैं। कुसंग जितनी जल्दी प्रभाव डालता है, उतनी जल्दी सत्संग नहीं; अर्थात् जैसे नीचे जानेमें परिश्रम नहीं करना पड़ता और ऊपर चढ़नेमें परिश्रम करना पड़ता है। यह संसार ही समुद्र है, विषयभोग जल है, मनुष्य-शरीर नौका है, प्रवाह अपना स्वभाव है, केवल महात्मा परमात्मा है, अनुकूल हवा सत्संग है और प्रतिकूल कुसंग है। यदि इस प्रकारकी नाव मिल जाय तो बेड़ा पार हो जाय। इसके विपरीत यदि कुसंग और काम-क्रोधादि स्वभाव मिल जाय तो संसार-समुद्रमें गिरना पड़ता है। इसलिये इस नावमें बैठ जाय, नाव चलानेका काम ईश्वरको सौंप दे और हवारूपी सत्संगका सहारा ले ले तो जीवका बेड़ा पार हो जायगा। जितने भी हैं सबको निमित्त बना लीजिये और विश्वास कीजिये कि शीघ्र उद्धार होगा। शास्त्रोंमें जो उपाय बतलाये गये हैं, उनमेंसे प्रत्येक विश्वास करने योग्य हैं और कल्याण-कारी हैं। यह कभी नहीं मानना चाहिये कि हमारा जन्म-मरण मिटा नहीं। प्रभुको आधार बनाकर बेपरवाह बन जाइये अर्थात् सब प्रकारसे प्रभुकी शरण हो जाइये। इसके लिये प्रतिदिन सत्पुरुषोंका—महापुरुषोंका संग, जो कि दुर्लभ है, करते रहना चाहिये। इससे हमें ईश्वर-शरणका तत्त्व ज्ञात हो जायगा और जन्म-मरणका भय छूट जायगा।

(क्रमशः)

नारीके प्रति विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण

(स्वर्गीय पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

अनेक आधुनिक ऐतिहासिकोंकी धारणा है कि भारतके आदिनिवासी कोल, भील, द्रविड़, कोलार, गोंड, उराँव, संथाल आदि हैं। आर्यलोग तो पिथोपोटामिया, एशिया-माइनर, तिब्बत या स्काडेनेवियासे आये। इसलिये वास्तविक 'भारतीय' कोल, भील आदि ही हैं; परंतु लेखकका मत ऐसा नहीं है। लेखकका दृढ़ विचार है कि आर्यलोग बाहरसे नहीं आये। वे सदासे यहींके रहनेवाले हैं। बाहरसे आनेका वेदादिमें कोई ठोस प्रमाण नहीं है। इसलिये वास्तविक 'भारतीय' आर्य या हिंदू ही हैं। 'भारतीय' शब्दसे लेखकका तात्पर्य मुसलमान, क्रिस्तान आदिसे भी नहीं है। मेरा विचार है कि जिन दिनों इस देशका नाम भारत पड़ा, उन दिनों जो आर्य जाति थी, वह और उसके धर्म तथा संस्कृतिका अनुगमन करनेवाले वंशज ही वास्तविक भारतीय हैं और स्वभावतः भारतीय शब्दसे यहाँ तात्पर्य इन्हीं लोगोंसे है। भारतीय दृष्टिमें नारी नरसे भी अधिक महिमावाली है; क्योंकि नारी या शक्तिके बिना सृष्टि ही नहीं होती और सदा महाप्रलय बना रहता। भारतीय शक्तिमान्से भी अधिक सम्मान शक्तिका करते हैं। कोई भी हिंदू या उसका कोई भी शास्त्र पहला स्थान शक्तिको देता है और दूसरा शक्तिमान्को। इसी बातको यों लिखा जा सकता है कि प्रत्येक हिंदू गौरी-शङ्कर, सीता-राम या राधा-कृष्ण ही कहता है और जपता है—शङ्कर-गौरी, राम-सीता या कृष्ण-राधा नहीं। पहले वह गौरी कहता है तब शङ्कर; सीता कहता है तब राम और राधा कहता है तब कृष्ण। वह पितासे माताका दर्जा हजारगुना बड़ा मानता है। गोस्वामी तुलसीदास-को नारीके प्रति उपेक्षा करनेवाला कहा जाता है; पर उन्होंने भी **'भवानीशंकरौ वन्दे'**, **'वन्दे वाणीविनायकौ'** और—**'सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ'** में पहले शक्तिका ही स्मरण किया है—

भारतीय दृष्टि प्रत्येक नारीको देवी मानती है—

'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।'

प्रत्येक हिंदू हर एक स्त्रीको माता समझता है—

'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।'

वह दुहिताको प्रेममयी मानता है, भगिनीको करुणामयी समझता है, गृहिणीको ज्योतिर्मयी आदर्श सती जानता है, पूजनीया माताको स्नेहमयी मानता है। वह नारीको निष्काम-कर्मयोगिनी, उपासिका, योगिनी, तपस्विनी, प्रेमिका और भक्तिमती मानता है। उसका पूर्ण विश्वास है कि यदि आदर्श सती चाहे तो मृत्युको भी लात मार सकती है, सूर्यका भी रथ रोक सकती है, हिमालयको भी मसलकर फेंक सकती है, समुद्रको चुल्लूमें लेकर पी सकती है और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशको भी 'बच्चा' बना सकती है। विश्वास ही नहीं, अपितु इन बातोंका सच्चा इतिहास भी है। हमारे शास्त्रोंमें सतियोंके कार्योंके ऐसे अनेक अद्भुत उदाहरण भरे पड़े हैं।

स्वयं तुलसीदासजीने सीताजीको सर्वशक्तिमान् परमात्मा माना है। सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा हैं, पालनकर्ता विष्णु हैं और संहारकर्ता शिव हैं, परंतु तुलसीदासजीने सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाली अकेली सीताजीको ही बताया है। उन्होंने लिखा है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

जिस निष्काम कर्मयोगको भगवान्ने **'कर्मयोगो विशिष्यते'** कहकर गीतामें विशिष्ट पद दिया है, उसमें तो स्त्रियोंको हिंदू पारगामिनी समझता है। जैसे कर्मयोगी प्रत्येक कर्मको कृष्णार्पण या ब्रह्मार्पण कर देता है, उसी भाँति पतिव्रता भी अपने सारे कर्मोंको पतिदेवके चरणोंमें समर्पित कर देती है—वह कर्मफलमें अनासक्त होकर पतिदेवके लिये ही सारे कर्म करती है। उसकी सारी कामनाएँ पतिदेवकी कामनाओंमें ही विलीन हो जाती हैं। पति ही उसके सर्वस्व हैं। वह पतिको, सारे परिवारको, अतिथियोंको और अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही भोजन करती है। पतिके सो जानेपर वह सोती है और पतिके उठनेके पहले ही उठती है। **बूढ़ों, रोगियों, आश्रितों और भिक्षुओंका सत्कार स्वयमेव करती है। इन सारे कामोंको वह नैसर्गिक रीतिसे ही करती है—उसमें उसका कोई भी स्वार्थ नहीं, कोई भी**

कामना नहीं है। वह तो केवल पतिके लिये जीती है, सारे कार्य करती है, समस्त दुःख उठाती है और पतिके लिये ही मरती भी है। वह पतिगतप्राणा हो जाती है। पतिका थोड़ा भी दुःख सुनकर वह महादुःखिनी हो जाती है और पतिकी मृत्यु सुनकर देहतक छोड़ देती है। जिस समय सती-शिरोमणि मदालसाने कपट-मुनिके द्वारा अपने पति ऋतध्वजका मरना सुना, उसी समय उसने भी प्राण-त्याग कर दिया। यही है आर्य-नारीका निष्काम कर्मयोग और दिव्य पति-भक्तिका प्रबल प्रलय। कर्मयोगी लोग असक्त होकर जो निष्काम कर्मयोग करते हैं, उससे उनकी आत्मशुद्धि होती है—

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।'

सती स्त्री निष्काम कर्मयोग करती है, इसलिये उसकी स्वभावतः आत्मशुद्धि हो जाती है और अपनी अर्थात् चित्तकी शुद्धि हो जानेपर निर्मल बुद्धिका उदय हो जाता है—'शुद्धे चित्ते बुद्ध्यः प्रस्फुरन्ति।' जब बुद्धि निर्मल हो गयी, तब निष्कलंक ज्ञान भी प्राप्त हो ही गया। यही कारण है कि स्त्रियोंकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है और ज्ञान परिपक्व हो जानेपर पतिव्रता स्त्रियाँ दिव्य धामको प्राप्त हो जाती हैं। महासती मदालसा ऐसी ही ज्ञानिनी थी। वह अपने बच्चोंको आत्म-ज्ञानका उपदेश देती थी। माताके उपदेशका प्रभाव बच्चों-पर सर्वाधिक होता भी है। वह बच्चोंसे कहती थीं, 'तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन हो, संसारी मायासे रहित हो, इसलिये इस मोह-निद्रावाली संसार-मायाको छोड़ो।'

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
(मार्कण्डेयपुराण २६। २०)

इस अनुपम उपदेशका यह फल हुआ कि मदालसाके तीन लड़के राजपाट छोड़कर विपिनमें धूनी रमाने चले गये। चतुर्थ पुत्र अलर्कको उसने उपदेश दिया—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयस्त्यक्तुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यः सैव तस्यापि भेषजम्॥

'सबका संग पूर्णतः छोड़ दो। यदि ऐसा न कर सको, तो संतोंका संग करो; क्योंकि सत्संग संगका औषध है। वासना भी सर्वांशतः छोड़ दो। यदि ऐसा न कर सको, तो मुक्तिकी इच्छा करो; क्योंकि कामनाकी ओषधि मुक्ति है।'

अलर्क भी तपोवन जानेको तैयार हो गये, परंतु बहुत अनुनय-विनय करनेपर वे किसी तरह राजमहलमें रह गये।

भारतीय दृष्टि प्रत्येक नारीको पूर्ण उपासिका समझती है। संसारके प्रपञ्चको छोड़कर अपने इष्टदेवके चरणोंमें लवलीन हो जाना ही मन्त्र-योग या सगुणोपासनाकी समाधि है। सगुणोपासना रूपका अवलम्बन करके होती है। हिंदू-नारीके इष्टदेवता उसके स्वामी हैं। उनका रूप प्रत्यक्ष है, उनकी ओर स्त्रीका स्वाभाविक अनुराग है, हृदयकी सच्ची लगन है। उपास्य देवमें नारी अपनी सुध-बुध भूल जाती है। उसकी स्वार्थ-स्पृहा विनष्ट हो जाती है। निष्कपट-हृदय और विशुद्ध भावनासे उपासना करनेपर अन्तःकरणकी सारी मलिनता धुल जाती है और तपाये हुए सोनेकी तरह हिंदू-नारी निखर उठती है। उसकी आत्मशुद्धि हो जाती है। उसके निर्मल अन्तःकरणमें ज्ञानका विकास हो जाता है। वह पतिको सर्वशक्तिमान् समझने लगती है—

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

अन्तमें उपास्य और उपासिकामें भेद नहीं रह जाता—उपासिका उपास्यके ध्यानमें लीन हो जाती है। वह मानवीसे देवी हो जाती है।

जिन कामोंसे चित्तकी काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि सारी वृत्तियाँ रुक जायँ, उन्हें योग कहा जाता है; परंतु इसका निरोध कैसे हो? इसका उत्तर योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलिने दिया है—'यथाभिमत-ध्यानाद् वा।' अर्थात् अपने किसी प्रिय रूपका ध्यान करनेसे भी चित्तवृत्तियाँ रुक जाती हैं। हिंदू इसीलिये नारीको योगिनी मानता है कि वह अपने प्रिय पतिरूपका ध्यान करके काम, क्रोध आदि अपनी वृत्तियोंको रोक डालती है। पतिदेवके प्रियतम रूपमें अपना मन लगा देनेसे नारीकी बाहरी विषयोंमें बहकनेवाली वृत्तियाँ स्वतः सिमिट जाती हैं; क्योंकि मन ही इनका संचालक है। मन ही जब दूसरी ओर चला गया, तब वृत्तियोंका उदय ही कैसे हो सकता है। इन वृत्तियोंका दमन हो जानेपर नारीके अन्तःकरणमें सरलता,

सुजनता, प्रेम, दया, कृपा, परोपकार आदि सद्वृत्तियोंका उदय स्वतः हो जाता है। पति-प्रेममें पगी होनेके कारण सतीका हृदय इतना कोमल, स्निग्ध और मधुर हो जाता है कि उसका हृदय कठोर हिंसा-वृत्तिसे कोसों दूर चला जाता है। सती स्त्री बहुत कम बोलती है और जब बोलती है, तब सत्य ही। उसे वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वह ब्रह्मचारिणी रहकर सदा पतिकी सेवा करती है—

शुश्रूषमाणा भर्तारं नियतं ब्रह्मचारिणी॥ (सीता)

वह केवल पतिकी इच्छाके अधीन है, इसलिये ब्रह्मचारिणी है, उसमें शौच, संतोष, तप आदि भी स्वाभाविक हैं। हिंदू-नारी पतिको ईश्वररूप मानकर उसका ध्यान करती है। इसलिये वह ईश्वरभक्ता होती ही है। सतीमें प्रत्याहार तो सदा रहता ही है; क्योंकि जैसे कछुआ अपने सारे अङ्गोंको समेट लेता है, वैसे ही नारी भी अपनी सारी इन्द्रियोंको विषयोंसे समेट कर पतिके रूपमें स्थिर कर लेती है। धारणा तो उसकी इतनी प्रबल होती है कि वह पतिकी धारणामें अपने शरीरका मोह और दुःख बिल्कुल ही छोड़ देती है। बंगालके अन्तिम सती-दाहके समय सतीने अनेक बड़े आफिसरोंके सामने पहले अपनी दो अङ्गुलियोंको हँसते-हँसते जलाकर भस्म कर दिया। यह देखकर दर्शक आश्चर्य-सागरमें डूब गये। पतिके ध्यान और पतिदेवके चरणोंका समाधिकी प्राप्तिमें तो सती सदा सचेष्ट रहती ही है। इस प्रकार योगके यम-नियम आदि आठों अङ्गोंकी स्थिरता पतिव्रतामें पायी जाती है। इसीलिये प्रत्येक हिंदू नारीको आराध्य योगिनी मानता है। जैसे योगीको अद्भुत शक्तियाँ मिलती हैं, वैसे ही पतिव्रताको भी अपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिये सती-मूर्धन्या सावित्री यमराजद्वारा लिये जाते हुए अपने पति सत्यवान्के शवके पीछे-पीछे आकाश-मार्गसे गयी थीं। यमराजके 'लौट जाओ' कहनेपर सावित्रीने जो उत्तर दिया था, वह प्रत्येक हिंदू-नारीके लिये आदर्श माना जाता है—

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति।
मयापि तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥

'जहाँ भी कोई मेरे पतिको ले जाय या मेरे स्वामी स्वयं जहाँ जायँ, वहाँ मुझे भी जाना चाहिये। यही सनातन धर्म है।'

अन्तमें सती-तेजके सामने सिर झुकाकर यमराजने सत्यवान्को लौटा दिया। पुनः जीवित होकर सत्यवान् ज्यों-के-त्यों अपने स्थानपर पहुँच गये। इससे बढ़कर योगिनीकी सिद्धि क्या हो सकती है?

भारतीय दृष्टिकोणमें तपस्याकी साक्षात् मूर्ति नारी है। मीमांसादर्शनका मत है—'तपःप्रधाना नार्यः।' अर्थात् नारी-धर्ममें तपस्या ही प्रधान है। तपस्या इतनी बड़ी शक्ति है कि उसीके बलनेसे भगवान् इस विश्वके स्थिति-पालन-संहार-का कार्य करते हैं। तप भगवान्का हृदय है, आत्मा है और दुःसाध्य तप ही उनका वीर्य भी है—

तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ।
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः॥
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥

(श्रीमद्भागवत)

स्वाभाविक चञ्चल इन्द्रिय-वृत्तियों और प्रबल मनोवृत्तियोंको उनके विषयोंसे रोक रखनेका नाम तप है। विषय-भोगसे इन्द्रियोंकी शक्ति और तेजका विनाश हो जाता है और विषय-भोगसे दूर रहनेपर इन्द्रियशक्ति, मनोबल, तेज आदिकी वृद्धि होती है। नारी सुख-भोगकी इच्छाओंको पतिदेवके चरणोंमें अर्पित कर देती है—उसकी अपनी इच्छा कुछ नहीं रहती। वह अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं-को सब ओरसे खींचकर पतिदेवमें ही विलीन कर देती है। पति दुःखी हैं तो वह दुःखी है, पति सुखी हैं तो वह सुखी है। यदि पति किसी प्रकारके सुखसे वञ्चित हैं तो वह भी वञ्चित है। धृतराष्ट्र जन्मसे ही अन्धे थे, इसलिये नेत्र-सुखसे वञ्चित थे। उनकी स्त्री परम सती गान्धारी फिर कैसे दर्शन-सुख प्राप्त कर सकती? गान्धारीने अपने हाथों अपनी आँखों-पर पट्टी बाँध ली और यह पट्टी जन्मभर उसकी आँखोंपर बँधी रही। अद्भुत बात है। अपूर्व त्याग है। विषयोंसे आश्चर्यजनक उपराम है। क्या अखिल विश्वकी किसी भी जातिमें ऐसी तपस्विनी सती मिल सकती है?

(क्रमशः)

भगवान्‌के दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन (४)

[नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार]

अब भगवान्‌के चरणोंमें रहनेवाले धनुषकी बात सुनिये। इस धनुषमें डोरी (प्रत्यञ्चा) नहीं है। बिना डोरीके ही उसमें बाणका संधान होता है। यही उसकी विशेषता है। भगवान्‌के चरणोंमें धनुष आदि जितने शस्त्र हैं, उन सबका उद्देश्य भक्तोंके विरोधियोंका विनाश करना है। भगवान्‌का निजका कोई शत्रु नहीं है। अपने भक्तके विरोधियोंमें ही वे विरोधित्वका आरोप कर लेते हैं, किंतु भगवान् अपने भक्तके विरोधियोंको मारकर भी उन्हें तार देते हैं। सच पूछिये तो उन्हें तारनेके लिये ही वे उन्हें मारते हैं। वास्तवमें किसीको मारनेका अधिकार उसीको है जो उसे मारकर तार सके। यह शक्ति भगवान् अथवा उन्हींकी शक्तिको प्राप्त किये हुए कारक पुरुषोंमें ही होती है। अतः मारनेका अधिकार उनको छोड़कर और किसीको नहीं है। भगवान् दुष्कृतियोंको मारनेके लिये नहीं, अपितु उन्हें तारनेके लिये ही अवतार लेते हैं। जिसे वे मारते हैं, उसके अघरूप अघासुरका वे बीज नाश कर देते हैं। उसकी आत्माको वे अमर कर देते हैं, अपनेमें मिला लेते हैं। उसका मरना सदाके लिये मिट जाता है। ये शस्त्र भी जिसको मारते हैं उसको तार देते हैं। जो इन शस्त्रास्त्रोंसे युक्त चरणोंका आश्रय ले लेते हैं, उनका कोई विरोधी नहीं रह जाता। उनके सब अनुकूल हो जाते हैं।

जा पर कृपा राम कर होई। ता पर कृपा करहिं सब कोई॥

उसके लिये आगकी दाहिका शक्ति मिट जाती है, विष भी अमृत हो जाता है।

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

भक्त प्रह्लादके लिये ऐसा ही हुआ था। उनका विष्णुपुराणमें वचन है—

रामनामजपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

अग्नि हमें तभीतक इष्ट है जबतक वह हमारे अनुकूल कार्य करती है, रसोई आदि बनानेमें सहायता देती है; किंतु ज्यों ही वह हमारे अङ्ग आदिको जलाने लगती है, त्यों ही हम उसे बुझा देते हैं। जो भक्त भगवान्‌के प्रेममें अपनेआपको भूले रहते हैं, उनके लिये भगवान् यह कार्य स्वयं करते हैं, अग्निको शीतल कर देते हैं, उसकी दाहिका शक्तिको खींच लेते हैं। शस्त्रोंकी शक्ति भी उसके अङ्गोंके स्पर्शमें आकर कुण्ठित हो जाती है। भक्तोंको कष्टका अनुभव भी नहीं होता। लौकिक दृष्टिसे दुःखी होनेपर उनका दुःख भगवान्‌के आयुधोंद्वारा कटता रहता है, जिससे वे सदा प्रसन्न रहते हैं।

सभी शत्रुओंके लिये सब अवस्थाओंमें एक ही प्रकारके आयुधका प्रयोग नहीं होता। इसलिये भगवान् कई प्रकारके शस्त्रास्त्र अपने चरणोंमें धारण करते हैं। बाणके द्वारा दूर शत्रुपर प्रहार किया जाता है। इसी प्रकार भगवान्‌के चरणोंमें रहनेवाला बाण हमारे दूरके जन्म-जन्मान्तरके पापोंका नाश कर देता है। भगवान्‌के बाणमें अन्य बाणोंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि और बाणोंकी सीमा होती है, एक निर्दिष्ट दूरीसे आगे उनकी गति नहीं होती, किंतु भगवान्‌के बाणकी कोई सीमा नहीं है, यह बात जयन्तके उपाख्यानसे सिद्ध होती है। भगवान्‌ने सींकका जो बाण छोड़ा वह अमोघ था, उसकी गति अप्रतिहत थी—अबाधित थी। इसीलिये किसी भी अचूक दवाका नाम 'राम-बाण' हो गया है। जयन्त देवपुत्र होनेपर भी उस बाणसे नहीं बच सका। वह सभी लोकोंमें गया; किंतु उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सका। यही बात भगवान्‌के चक्रके सम्बन्धमें अम्बरीषके प्रसङ्गसे द्योतित होती है। और बाणोंका तो यह हाल है कि निशान यदि हट जाय अथवा चूक जाय तो वे निष्फल हो जाते हैं, किंतु भगवान्‌का बाण निशानेको छोड़ता नहीं, चाहे वह कहीं क्यों न चला जाय। भगवान्‌की कौमोदकी गदा, देवदत्त नामक असि तथा अन्य बरछी आदि शस्त्र समीपके अर्थात् प्रारब्ध तथा संस्कारगत पापोंका नाश कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय जिन्हें प्राप्त हो गया है, उनके दूर, समीप अथवा स्वप्नमें भी पाप नहीं रह सकते।

ये सारे चिह्न भक्तोंके उपयोगके लिये हैं। भगवान् साकार विग्रह भक्तोंके लिये ही धारण करते हैं। जगत्‌में भगवान्‌की जो लीला होती है, उसमें भी उनके भक्त परिकर-

रूपसे सदा साथ रहते हैं। इसीलिये वे मुक्ति नहीं चाहते; क्योंकि वे मुक्त तो हैं ही। बिना मुक्त हुए किसीके कर्म लीलावत् नहीं हो सकते। वेदान्तदर्शनमें भी एक सूत्र है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।'

यहाँ 'माया' शब्दका प्रयोग न होकर 'लीला' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदान्तसूत्रोंके रचयिता भी भगवान् और उनके भक्तोंकी लीलाको स्वीकार करते हैं। खेल सदा एक-सा नहीं होता। इसलिये वह अनित्य है। किंतु वह 'असत्' नहीं है; क्योंकि वह होता है।

अस्त्र-शस्त्रोंका दूसरा भाव यह है कि इन शस्त्रोंके द्वारा जिनका नाश होता है वे भी तर जाते हैं। जो वस्तु सत् है उसका नाश नहीं होता, उसकी शुद्धि हो जाती है। रूपान्तर हो जाता है। देवर्षि नारद अपने सूत्रोंमें कहते हैं कि काम-क्रोधादि भी भगवान्‌के प्रति ही करने चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि भक्तके अंदर काम-क्रोध तो रहते हैं, नहीं तो उनका प्रयोग भगवान्‌के प्रति करनेकी बात क्यों कही जाती; परंतु वे काम-क्रोध दोषवाले एवं विकारयुक्त नहीं होते। उनका रूप दूसरा हो जाता है। वे शुद्ध हो जाते हैं—

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।'

गोपियोंके प्रेमको ही लोग काम कहने लगे हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ उसका विषय प्रेमास्पद अवश्य होना चाहिये और प्रेमास्पदमें अद्वैत होते हुए भी द्वैतकी कल्पना करनी पड़ती है। यह बात पहले कह आये हैं कि भगवान्‌के शस्त्रोंद्वारा जो मारे जाते हैं वे तर जाते हैं; शिशुपाल आदि मरकर भगवान्‌के परिकर हो गये। इसी प्रकार मनके विकार विकार-रूपसे नष्ट हो जानेपर भी लीलारूपमें खेलनेके लिये रह जाते हैं, अतएव दानलीला, मानलीला आदि लीलाएँ होती हैं। ये सब शास्त्रोक्त हैं; छल, कपट और दम्भ नहीं। ये सब बुरे भाव शुद्ध रूपमें आ जाते हैं; क्योंकि भक्तके लिये मलिन मायाका पर्दा फट जाता है। वे भगवान्‌के दासत्वका अभिमान बनाये रखना चाहते हैं। तुलसीदास महाराजने कहा है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

बात भी ठीक है, जिसके मनमें मुक्तिका लोभ नहीं, उसके चरणोंमें मुक्ति खेलती है। उस मनको मोहनेवाले मुखड़ेको देखते रहनेकी कामना यदि हट जाय तो वह काहेका भक्त और काहेका ज्ञानी? ऐसी कामनाको कौन छोड़ना चाहेगा। इसीलिये गोसाईंजी महाराजने कहा है—

अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

वास्तवमें इन भक्तोंसे बढ़कर चतुर कौन होगा? क्योंकि मुक्ति तो उन्हें ऐसे ही उत्तराधिकारके रूपमें मिल जाती है। मुक्तिपर तो उनका पैतृक अधिकार हो जाता है—**'मुक्तिपदेऽस्य दायभाक्'**। भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होना मुक्तिसे परेकी वस्तु है। अतः मुक्तिके पीछे इस सुखको कौन छोड़ना चाहेगा? ऐसे भक्तोंके अंदर कामना रहती है; परंतु वह एकमें केन्द्रीभूत रहती है। भक्तराज वृत्रासुरने भगवान्‌से यही माँगा है। उसने कहा—'मुझे न मुक्ति चाहिये, न किसी प्रकारकी सिद्धि चाहिये, न इन्द्रका पद चाहिये, न ब्रह्माका पद चाहिये, न तो त्रिलोकीका राज्य ही चाहिये। मेरी तो एक ही लालसा है कि जिस प्रकार पक्षि-शावक जिनके अभी पर नहीं आये हैं, जो उड़ नहीं सकते, अपनी माताको पुकारते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे लिये छटपटाता रहूँ।' वाह, कैसी अनोखी कामना है। बात भी ठीक है, जिसकी माँ भगवान् बन जायँ वह उस भगवान्‌रूप माँकी गोदको क्यों छोड़ेगा? मुक्ति तो उसकी छाया है।

तात्पर्य यह है कि भक्त शुद्धकामी होते हैं, उनका यह काम सारे सांसारिक कामोंको जलाकर उनकी चिताकी भस्म शरीरमें रमाकर नाचता है। शिव काम-प्रेम-रूप ही हैं। दूषित काम तो उनके तीसरे नेत्रसे ही दग्ध हो जाता है। शिवका रूप ही मदन-दहन है। वे सारी कामनाओंकी राखको लपेट-कर दिन-रात प्रेमास्पदके नामको रटते हैं। इसी प्रकार भक्त भगवान्‌के अति कामी होते हैं। हमलोगोंके काम क्षुद्र काम हैं; क्योंकि पहले तो क्षुद्र वस्तुको चाहता है जो नश्वर हैं, दूसरे वह अनेकको चाहता है। इसके विपरीत भगवत्काममें दूसरेको स्थान नहीं है, उस एकमें ही अनेक समाये हुए रहते हैं। मीरा कहती है—

ऐसे वरको क्या वरूँ, जो जनमै औ मर जाय।
वर वरिये एक साँवरो जो चुड़लो अमर हो जाय॥

यह भगवत्काम अन्य सारी कामनाओंके जल जानेपर उत्पन्न होता है।

भक्तोंके क्रोध और मान भी इसी श्रेणीके होते हैं। सीता वनगमनके प्रसङ्गमें श्रीरामसे कहती हैं कि यदि मुझे यह मालूम

होता कि आप मुझे इस तरह अकेली छोड़कर वन जानेके लिये प्रस्तुत हो जायँगे तो मैं अपने पितासे कह देती कि वे मुझे आपके साथ न ब्याहें। भगवान् श्रीकृष्णके सखा तो कभी-कभी भगवान्‌को थप्पड़ भी लगा देते थे। भगवान् यह चाहते थे कि वे ऐसा करें, नहीं तो भला उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई आँख उठाकर उनकी ओर देख तो ले! यह अधिकार मामूली नहीं है। अर्जुन भी '**विहारशय्यासन-भोजनेषु**' भगवान्‌के साथ रहा था। उसने भगवान्‌के अङ्गोंपर पैर रखे थे। उनके साथ लिपटकर सोया था; किंतु भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर वह डर गया, क्षमा माँगने लगा—'**प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।**' तब भगवान्‌ने उसे समझाया, सान्त्वना दी और कहा—तुम्हारा वह सारा व्यवहार, जिसके लिये तुम क्षमा माँगते हो, प्रमाद नहीं था, प्रणय था। यह सब मैंने ही कराया था। भक्तोंमें मान भी होता है, योग भी होता है, क्रोध भी होता है। माँग पूरी न होनेपर मान होता है। भक्तकी माँग पूरी न कर भगवान् सोचते हैं कि देखें, यह खीझता है कि नहीं; और उसे खीझते देखकर प्रसन्न होते हैं! तब भक्त उनसे रूठकर मान करके बैठ जाता है। 'प्रेमपत्तन' ग्रन्थमें कृष्णकी एक प्रेयसी यहाँतक कह बैठती है कि हमारे सामने नन्दनन्दनका नाम भी न लो। वहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदमें व्यवधान ही सुखकर होता है; परंतु यह प्रेमकी एक स्थिति होती है। यह कहनेकी वस्तु नहीं है। हमलोग इन प्रेमलीलाओंका यदि अनुकरण करने लगें तो यह अनुचित होगा। इसीलिये यह कहा गया है कि गुरुके सभी आचरणोंका अनुकरण न करो। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहुँचे हुए गुरुसे अशुभ आचरण भी होते हैं। तात्पर्य यही है कि उनके जो आचरण हमारी दृष्टिमें उपेक्षणीय, शङ्कायुक्त अथवा निषिद्ध प्रतीत हों, उन्हें हमें कदापि नहीं करना चाहिये।

कहते हैं, एक बार भगवान् शंकराचार्य अपने शिष्यसमुदायके साथ किसी ग्राममें भिक्षाके लिये गये। वे ज्ञान और प्रेममें ऐसे छके हुए थे कि उन्हें बाहरका अनुसंधान ही नहीं था। ऐसी दशामें वे किसी कल्वारके घर पहुँचे और वहाँ उनके भिक्षापात्रमें उन लोगोंने थोड़ी-सी शराब डाल दी, जिसे शंकर भगवान् पी गये। उनकी देखा-देखी उनके शिष्योंने भी ऐसा किया। भगवान् शंकराचार्यने सोचा, वे लोग उच्छृङ्खल हो रहे हैं और हमारी सब बातोंका अनुकरण करने लगे हैं, इन्हें थोड़ी शिक्षा देनी चाहिये। ऐसा मनमें सोचकर वे किसी ऐसी दूकानपर गये जहाँ गरम शीशा ढल रहा था। दूकानदारने उनके आवाज लगानेपर झुँझलाकर उनके पात्रमें वही गला हुआ शीशा डाल दिया। भगवान् शंकराचार्य सिद्ध योगी ठहरे। वे योगबलसे उसे भी चढ़ा गये! जब शिष्योंकी बारी आयी तब तो वे लगे घबराने और बगल झाँकने! तब गुरुजीने उनसे कहा कि तुम हमारे शास्त्रानुकूल आचरणोंका ही अनुसरण करो। जो बात तुम्हें दूषित अथवा शङ्कास्पद लगे उसे न करो। भागवतमें भी यही बात लिखी है और शंकरजीका उदाहरण दिया है। जो लोग शंकरजीकी भाँति हलाहल विषका पान कर सकते हैं, वे ही उनकी सारी लीलाओंका अनुकरण कर सकते हैं; अन्यथा इस प्रकारके अनुकरणसे बड़ी हानि होती है।

अस्तु, जब मुक्तिकी कामनाको ही कामना नहीं कहते तब जो कामना मुक्तिको त्यागनेके अनन्तर होती है, उसे कामना कैसे कह सकते हैं? लौकिक कामको तो भगवान्‌ने शत्रु कहकर मारनेकी आज्ञा दी है—

'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।'

नामोंसे भ्रम फैल गया। जैसे सगुण नामसे ही भगवान्‌को वेदान्ती लोग मायाविशिष्ट एवं मायिक कहने लगे; किंतु जिनके अङ्ग-गन्धसे मायाके पार पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष कामना-क्षुब्ध हो जाते हैं उन्हें हम मायाविशिष्ट कैसे कह सकते हैं? जिस प्रकार नरक भी एक लोक है और गोलोक भी एक लोकविशेष है, उसी प्रकार हमलोगोंके कामकी और भक्तोंके कामकी तुलना की जाती है। वास्तवमें भक्तोंका काम तो सब कुछ समर्पण हो जानेके बाद प्रकट होता है और वही महायोग है। सच पूछिये तो वहाँ श्रेयका ही नाम काम है।

(क्रमशः)

साधकोंके प्रति—

(सर्वोपरि साधन—सत्संग)

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

प्रश्न—आपको आध्यात्मिक लाभ कैसे हुआ ?

उत्तर—हमें तो सत्संगसे लाभ हुआ है। मैं साधनसे विशेष महत्त्व सत्संगको देता हूँ; क्योंकि मुझे विशेष लाभ पुस्तकोंके पढ़नेसे और सत्संगसे हुआ है। औरोंके लिये भी मैं यही समझता हूँ कि वे यदि मन लगाकर, गहरे उतरकर सत्संगकी बातें समझें तो बहुत भारी लाभ ले सकते हैं।

एक विशेष बात और है। मुझे जितने वर्ष लगे, आपको उतने वर्ष नहीं लगेंगे। यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि इस विषयमें आपको कठिनता मालूम दे रही है वह नहीं है। यदि आप सत्संगको महत्त्व दें और इन बातोंका गहरा मनन करें तो बहुत जल्दी आपकी उन्नति हो सकती है—ऐसा मुझे स्पष्ट दीखता है।

मैं आपलोगोंको अनधिकारी नहीं मानता हूँ। आपमें कमी है, परंतु कमी दूर करनेकी सामर्थ्य भी आपमें पूरी है। मेरी समझसे आपमें इस विषयकी केवल उत्कण्ठाकी कमी है। यदि उत्कण्ठा जाग्रत् हो जाय तो कोई भी पापी-से-पापी हो, मूर्ख-से-मूर्ख हो और किसीके पास थोड़े-से-थोड़ा समय हो तो भी उसका उद्धार हो सकता है। उत्कण्ठा जाग्रत् करनेके लिये संसारके भोगोंको पानेकी भीतरमें जो लालसा है, इसे कृपा करके छोड़ दीजिये !

कबीर मनवा एक है, भावे जहाँ लगाय।
भावे हरिकी भक्ति कर, भावे विषय कमाय॥

संग्रह और भोगमें जो लगन लगी है, इसको मिटा दीजिये अर्थात् इतना रुपया हो गया, इतना और हो जाय; इतना सुख भोग लें; ऐश-आराम कर लें, मान मिल जाय, बड़ाई मिल जाय, नीरोगता मिल जाय, समाजमें मेरा स्थान बन जाय, हम ऐसे बन जायँ—ये जितनी इच्छाएँ हैं, इनका त्याग कर दीजिये। बस, फिर आपकी परमात्म-प्राप्तिकी लगन अपने-आप लग जायगी। आप यह कह सकते हैं कि जितनी लगन लगनी चाहिये, उतनी नहीं लग रही है; तो भाई ! जितना त्याग होना चाहिये, उतना त्याग नहीं हो रहा है। मनमें त्याग है ही नहीं। त्याग क्या है ? गीतामें भगवान्‌ने जगह-जगह इच्छाओंको त्यागनेकी बात कही है। इच्छा क्या है ? यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये—यही इच्छाका स्वरूप है। इसे त्याग दीजिये तो कितना भारी लाभ हो जाय। गीता कहती है कि जो मनुष्य सम्पूर्ण इच्छाओंको त्याग देता है, वह स्थित-प्रज्ञ है अर्थात् भगवत्प्राप्त पुरुष है।

जरा विचार कीजिये, इच्छासे कुछ मिलता तो है नहीं, केवल अपनी फजीति ही होती है। इच्छामात्रसे शरीरका, कुटुम्बका पालन-पोषण होता नहीं। पैसोंका पैदा होना, पदार्थोंका मिल जाना इच्छापर निर्भर नहीं है; कारण कि पदार्थोंकी प्राप्ति होती है पूर्वके कर्मोंसे और अभीके कर्मों-(उद्योग) से। पदार्थोंका और कर्मोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पदार्थोंका इच्छासे बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं है।

अब इस बातको आप समझनेकी कृपा करें कि इच्छाके साथ पदार्थोंका सम्बन्ध नहीं है। आपमेंसे कोई भाई यह कह सकते हैं कि हमने धनकी इच्छा नहीं की, इसलिये निर्धन रहे हैं। इच्छा कर लेते तो धनवान् हो जाते ! इसलिये आपको भी यह बात जँचती ही है न कि इच्छाओंके साथ पदार्थोंका सम्बन्ध नहीं है। पदार्थोंका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है; क्योंकि क्रिया और पदार्थ—दोनों प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। दोनों एक तत्त्व हैं। पदार्थोंका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है, वे कर्म चाहे पूर्वके हों या वर्तमानके। पूर्व कर्मोंको 'प्रारब्ध' कहते हैं और वर्तमानके कर्मोंका नाम 'पुरुषार्थ' है। अतः पुरुषार्थ हो तो कर्म है और प्रारब्ध हो तो कर्म है। कर्मोंके साथ पदार्थोंका सम्बन्ध है। इच्छाके साथ इनका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है।

मैं इच्छा करूँ कि मेरा पालन-पोषण हो जाय, तो क्या इस प्रकार इच्छा करनेसे मेरा पालन-पोषण हो जायगा ? घण्टाभर सब मिल करके यह इच्छा करें कि इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जाय। इसके लिये पुरुषार्थ करो मत और इसको कौड़ी एक मत दो तो क्या ऐसी इच्छा करनेसे इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जायगा ? कदापि नहीं। अतः इच्छाके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। इच्छाके साथ सम्बन्ध है केवल परमात्माकी प्राप्तिका; परमात्माकी प्राप्तिकी

केवल उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये तो उस तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी ?

प्रश्न—ऐसी विपरीत बात क्यों है ?

उत्तर—पदार्थोंसे हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत उनसे हमारा अलगाव है। उनसे देश-कालकी दूरी है। अतः उनकी प्राप्ति कर्मोंसे होगी। परमात्मासे हमारी देश-कालकी दूरी नहीं है। इसलिये उनकी प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे हो जायगी। 'मैं'–'मैं' जहाँसे कहते हैं, वहाँ भी वे परिपूर्ण हैं। वे सर्वत्र और सदैव परिपूर्ण हैं। सर्वत्र और सदैव अर्थात् देश और काल उनके अन्तर्गत हैं। जहाँ उत्कट इच्छा हुई कि वे वहाँ ही प्रकट हुए! रुपये भगवान्‌की तरह सर्वत्र परिपूर्ण थोड़े ही हैं। वे तो पैदा करनेसे होंगे; परंतु परमात्मा पैदा नहीं करने पड़ते। उनका नया निर्माण नहीं करना पड़ता। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं करना पड़ता। उनसे देश-कालकी दूरी नहीं। इसलिये वे तो केवल इच्छामात्रसे मिलते हैं; संसारकी और कोई भी वस्तु इच्छामात्रसे नहीं मिलती।

वास्तवमें तो परमात्मा मिले हुए ही हैं। इच्छामात्रसे मिलनेका कहनेमें भाव यह है कि संसारकी इच्छा मिटानेमें परमात्म-प्राप्तिकी इच्छा करनेकी सार्थकता है। नहीं तो परमात्मासे मिलनेके लिये किसी इच्छाकी भी आवश्यकता नहीं। वे तो हैं और ज्यों-के-त्यों हैं। सर्वत्र परिपूर्ण हैं। सदा ही मिले हुए हैं; परंतु संसारकी इच्छाएँ रहनेके कारण जीव संसारके सम्मुख और भगवान्‌से विमुख रहता है। इसलिये परमात्मा सर्वत्र रहते हुए भी उसे उनकी अनुभूति नहीं होती। इसलिये संसारकी इच्छाओंको मिटानेमें परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा आवश्यक है।

संसारकी वस्तुओंकी प्राप्तिके विषयमें नियम है कि इच्छा कर पुरुषार्थ करो और प्रारब्धका संयोग होगा तो मनचाही वस्तु मिलेगी अर्थात् तीनोंका संयोग होगा तो वस्तु मिलेगी। आप कह सकते हैं कि बड़ा परिवार है, रोटी-कपड़ेकी तंगी है, काम चलता नहीं तो इच्छा किये बिना कैसे रहे ? तो इच्छासे थोड़े ही मिलेगा। काम करनेकी इच्छा कीजिये, निकम्मे मत रहिये, निरर्थक मत रहिये; पर झूठ, कपट, बेईमानी मत कीजिये। ठगी, धोखेबाजी मत कीजिये। न्याययुक्त काम कीजिये और मनमें रुपयोंको महत्त्व मत दीजिये।

यह जो लोभ है, संग्रह करनेकी इच्छा है, इसका त्याग कर दो तो आपका नया प्रारब्ध बन जायगा अर्थात् जो आपके प्रारब्धमें लिखा हुआ नहीं है, वह आपके सामने आ जायगा। परंतु आपके लोभका त्याग हो जाना चाहिये। और अन्तःकरणमें इतना दृढ़ निश्चय हो कि चाहे मर जायँगे बेशक, पर पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे। झूठ, कपट, जालसाजी नहीं करेंगे, नहीं करेंगे। यदि मर जायँ तो क्या अन्तर पड़ेगा! मरना तो एक बार है ही। झूठ, कपट, बेईमानी करके मरेंगे तो पापकी पोटली बड़ी लेकर मरेंगे। बिना पाप किये हल्के-हल्के जल्दी ही मर जाइये तो क्या हानि हुई ?

पाप इकट्ठा मत कीजिये। यदि पाप किये बिना पैसा न मिलता हो तो भूखे भले ही मर जाइये। इससे नरकमें नहीं जाइयेगा और पाप करके जीयेंगे तो नरकमें जाइयेगा ही; बच नहीं सकते, ब्रह्माजी भी बचा नहीं सकते।

आपलोग सत्संग करनेवाले हैं। सब समझ सकते हैं। मेरी बातको ठीक तरहसे समझिये। कर्तव्य-कर्म कीजिये, निकम्मे मत रहिये। इस विषयमें आपलोगोंको चार बातें कहा करता हूँ। इनपर ध्यान दीजिये—

(१) आप अपना सारा समय अच्छे-से-अच्छे, ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाइये। निकम्मे मत रहिये, निरर्थक समय नष्ट मत कीजिये। ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, बीड़ी-सिगरेट तथा सिनेमा-नाटक देखना—ये सब व्यर्थके काम हैं, तमोगुणी कार्य हैं, जिनसे नरकमें जाना पड़ेगा **'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)। ऐसे कामोंमें समय मत लगाइये। शरीरका निर्वाह हो, स्वास्थ्य ठीक रहे, दुनियाका हित हो, परमात्माकी प्राप्ति हो—ऐसे कार्योंमें लगे रहिये।

(२) जिस किसी कामको कीजिये, उसे सुचारुरूपसे कीजिये, जिससे मनमें संतोष हो। दूसरे भी कहें कि बहुत अच्छा काम करता है। जैसे लिखना हो, मुनीमी करना हो, बिक्री करना हो, खरीदारी करना हो आदि-आदि संसारका जो कुछ काम करना हो, उसको बड़े सुचारुरूपसे, सुसंगतरूपसे कीजिये। माता-बहिनें रसोई अच्छी तरहसे बनावें। सामग्री चाहे सादी-से-सादी हो, परंतु रसोई बढ़िया ढंगसे बनावें। ठीक तरहसे भोजन परोसें। सबको संतोष कैसे हो ? सबको किस तरहसे सुख पहुँचे—ऐसे ढंगसे घरका काम करें।

(३) इस बातका ध्यान रखें कि दूसरेका हक न आ जाय। आपका हक भले ही चला जाय, पर दूसरोंका

हक कभी भी आने नहीं दें । इस बातकी बड़ी भारी सावधानी रखो ।

(४) अपने व्यक्तिगत जीवनके लिये कम-से-कम खर्चा करो । शरीर-निर्वाहके लिये, खाने-पीनेके लिये, ओढ़ने-पहननेके लिये साधारण रीतिसे खर्चा करो । केवल काम चलाना है; ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी नहीं करनी है । यदि आप ऐसे काम करें तो आपके घाटा नहीं रह सकता; करके देख लो ।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या करें, निठल्ले बैठे हैं, काम नहीं है । यह बिल्कुल फालतू बात है । निकम्मे क्यों बैठे हैं ? नाम-जप करो, कीर्तन करो, गीता-रामायणका पाठ करो । घरका काम करो । घरमें झाड़ू लगाओ, बर्तन धोओ, जूते ही साफ करो । नालियाँ ही साफ करो । टट्टी-पेशाबकी जगह साफ करो, उसको पानी डालकर स्वच्छ करो, निर्मल करो । इस तरह कुछ-न-कुछ करते रहो । करना चाहो तो बहुत कुछ काम निकल सकता है । सेवाका काम करनेसे अन्तःकरण निर्मल होगा । व्यर्थ समय बरबाद मत करो । मानव-शरीरका समय बरबाद करनेके लिये नहीं है । तेलीके घरमें तेल होता है, तो लोटा भरके पैर धोनेके लिये थोड़े ही है ।

भगवान्‌ने मानव-शरीर दिया है । इस मानव-शरीरमें विवेक दिया है । विवेक दिया है समयका सदुपयोग करनेके लिये, न कि फालतू घूमनेमें, सिनेमा देखनेमें या ताश-चौपड़ खेलनेमें समय बरबाद करनेके लिये । मानव-जीवनका समय श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ उपयोग करनेके लिये है । उस समयको बरबाद करना बड़ी भारी हानि है । रुपया फिर पैदा कर सकते हैं, जवान बेटा मर जाय तो छोटे बालक जवान हो सकते हैं । गृहस्थियोंके नये पैदा हो सकते हैं, पर आयु (समय) किसी तरहसे पैदा नहीं हो सकती । वह तो नष्ट ही होती है । उसे यों ही बरबाद करते हैं । पैसोंका खर्च करते समय ध्यान रखते हो, सोच-समझकर एक-एक पैसा खरचते हैं और समयको यों ही बरबाद कर देते हैं, यह कोई बुद्धिमानी है ?

हवाई जहाज देखनेमें समय लगा दिया । क्या लाभ हुआ, जरा सोचो ! उससे स्वास्थ्य सुधरा ? समाज सुधरा ? रुपये मिले ? भगवान् मिले ? क्या मिला ? आयुरूपी अमूल्य धन जो आपको मिला हुआ है, इसे ऐसे ही बरबाद क्यों करते हो ? सावधान रहो । यदि आप समय बरबाद नहीं करेंगे और अच्छे-से-अच्छे काममें समय लगावेंगे तो आपकी लौकिक-पारलौकिक उन्नति अवश्य होगी । इसमें मुझे संदेह नहीं है । आप किसी भी क्षेत्रमें जाओ, आपकी उन्नति होगी । नास्तिक-से-नास्तिक आदमी भी यदि सोच-समझकर समयका सदुपयोग करेगा तो उसकी अपनी धारणाके अनुसार, क्रियाके अनुसार उसकी उन्नति होगी । यदि आस्तिक मनुष्य विचार-कर समयका सदुपयोग करेगा तो उसे भगवत्प्राप्ति हो सकती है । सावधानीकी आवश्यकता है । असावधानीमें समय बरबाद हो जाता है । इसलिये प्रमाद मत करो ।

दूसरेका हक मत आने दो । जो शरीर अपना कहलाता है, वह भी तुम्हारेसे दूर है, उससे सुख लेना ही पूरे संसारका हक लेना है, इस वास्ते इससे सुख मत लो । ऐसे ही अपने शरीरसे भिन्न दूसरे जितने भी लोग हैं, किसीके हकको मत लो । अपने स्वयंसे स्त्री भी दूर कहलाती है । इस वास्ते स्त्रीका जो अधिकार है, उसकी पूर्ति करो । उसका हक मत छीनो । पुत्र आपसे दूर है तो पुत्रका पालन-पोषण, शिक्षण बढ़िया-से-बढ़िया करो । पिताका पुत्रके प्रति जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो । माता-पिताकी पूरी सेवा करो । स्त्रीके प्रति जो कर्तव्य है, वह भी पूरा पालन करो । किसीका अधिकार मत लो । हक मत छीनो । पड़ोसी है, व्यापारी है, जिनसे व्यवहार, व्यापार आदि करते हैं, उनका हक हमारेमें नहीं आना चाहिये । उनके साथ प्रेम, ईमानदारीपूर्वक सच्चा व्यवहार करो । इतना करनेपर भी ऋण पूरा नहीं चुकेगा; परंतु उनसे कोई आशा नहीं रखेंगे तो नया ऋण नहीं चढ़ेगा । अभी तो दूसरेके हकका पता ही नहीं लगता, पर सावधानी रखनेपर पता लगेगा कि हम कहाँ दूसरोंका हक मार रहे हैं ।

अभी आपलोगोंसे यह पूछा जाय तो उत्तर आयेगा कि हम तो किसीका हक लेते ही नहीं । हम तो ठीक करते हैं । हम पाप करते ही नहीं; ऐसे व्यक्ति मुझे मिले हैं और मेरेसे उन्होंने कहा है—'भजन करनेकी क्या जरूरत है ? हम पाप तो करते ही नहीं । भगवान्‌का भजन वह करे, जो पाप करता है । जब हम पाप करते ही नहीं, तब भजनकी क्या जरूरत ?' उनको पता ही नहीं है कि पाप क्या है ? अन्याय क्या होता है ?

सावधानी क्या रखनी है ? सावधानी यह रखनी है कि आपने अभी जो बातें सुनीं, इनका अब हम आयुभर पालन करेंगे, ऐसा ही करेंगे, असावधानी नहीं करेंगे । इस तरह इनपर

कायम रहो । ऐसे ही सत्संगकी बातें सुननेमें सावधान रहो । मैंने कहा कि पैसोंका, पदार्थोंका सम्बन्ध इच्छा अथवा चिन्तनसे नहीं है । उनका कर्मोंके साथ सम्बन्ध है । इस बातको अच्छी तरहसे समझो ।

आप कह सकते हैं कि इच्छा और चिन्तनके बिना कैसे काम चल सकता है? हमको तो व्यापार करना है। कई धन्धे करने हैं, व्यापार-सम्बन्धी कई बातोंका चिन्तन करना पड़ता है । चिन्तन क्यों करना पड़ता है? काम-धन्धे आदि व्यवहारको सुचारुरूपसे ठीक करनेके लिये बगतपर चिन्तन भले ही करें, पर परिणामकी चिन्ता क्यों करते हैं? चिन्ता करना तो मूर्खता ही है। चिन्ता करनेसे क्या लाभ होगा? केवल शक्तिका अपव्यय होगा । काम करना पड़ता है, सेवा करनी पड़ती है, यह तो ठीक है, पर चिन्ता करना बिल्कुल फालतू बात है ।

चिन्ता हम करते नहीं महाराज ! चिन्ता आ जाती है । आ जाती है तो उस चिन्ताको छोड़ो, और काम करो । चिन्ता करनेसे बुद्धि नष्ट होती है । शान्तिसे विचार करो । विचार करनेसे बुद्धि विकसित होती है । चिन्ता और वस्तु है, विचार और वस्तु है । काम किस रीतिसे करें ? किस रीतिसे कुटुम्बका पालन करें ? व्यवहार करें ? व्यापार करें ? किस तरह सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध रखें—इन बातोंका शान्त चित्तसे विचार करना चाहिये । इससे बुद्धि विकसित होती है । सामर्थ्यका विचार किये बिना कर्म करनेको 'तामस कर्म' कहा गया है ।

इतना बड़ा कुटुम्ब है, पैदा है नहीं ! हाय ! क्या करें ? इस प्रकार चिन्ता करके दुःखी होनेसे बुद्धि नष्ट होती है ? इससे तो काम करनेमें बाधा ही पड़ेगी । इस वास्ते विचार तो करो, पर चिन्ता बिल्कुल मत करो । तात्पर्य है कि उद्योग करो, पुरुषार्थ करो । निकम्मे मत रहो । पुस्तकें पढ़ो । स्वयं विचार करो । आपसमें विचार-विनिमय करो । सत्सङ्गकी बातोंको सावधानीसे सुनो, उनके अनुसार काम करो और अपने जीवनको उन्नत बनाओ । बाधाएँ आवें तो उनको सुलझाकर पुनः चेष्टा करो । इस प्रकार सत्सङ्गसे लाभ लो । 'भगवत्प्राप्ति'--सत्सङ्गसे बहुत शीघ्र एवं सुगमतासे हो सकती है । सत्सङ्गकी महिमा कहाँतक कही जाय ! सत्सङ्ग सर्वोपरि साधन है ।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

भागवती कथाकी प्रस्तावना-३

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

[गताङ्क ८, पृष्ठ ११६ से आगे]

प्रथम स्कन्धका प्रथम अध्याय 'प्रश्नाध्याय' कहलाता है।

नैमिषारण्यमें अठासी हजार ऋषियोंका ब्रह्म-सत्र हुआ । ब्रह्म-सत्रमें एक बार सूतजी पधारे। शौनकजीने सूतजीसे प्रश्न किया कि जीवमात्रका कल्याण कैसे हो सकता है? कल्याणका सुलभ और सरल मार्ग बताइये । इस कलियुगके शक्तिहीन मनुष्य भी जिसका उपयोग कर सकें, ऐसा कोई साधन बताइये । इस कलियुगके मानव मन्दबुद्धि और मन्दशक्ति हैं, सो कठिन मार्ग नहीं अपना सकेंगे । कलियुगके मनुष्य भोगी होनेसे मन्दबुद्धि कहे गये हैं । कलियुगके मानव ऐसे भोगी हैं कि एक ही आसनपर बैठकर आठ घंटे ध्यान नहीं कर सकते । वे मनुष्य अपनेको चतुर मानते हैं; किंतु व्यासजी उन्हें ऐसा माननेको तैयार नहीं हैं । बात भी ठीक है । संसारके विषयोंके पीछे ही जो लगा रहे, उसे प्रवीण कैसे कहा जा सकता है ?

*

शास्त्र कहता है कि सौ काम छोड़कर भोजन करो, हजार काम छोड़कर स्नान करो, लाख काम छोड़कर दान करो और करोड़ काम छोड़कर प्रभु-स्मरण करो, ध्यान करो, सेवा करो—

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत् ।
लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं भजेत् ॥

घरके कामोंको करनेके बाद माला मत फेरो, किंतु प्रभुनामका जाप करनेके बाद घरका सब काम करो । करोड़ कामोंको छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो । कलियुगमें मनुष्य, जो काम करना चाहिये, उसे नहीं करते हैं और जिसे नहीं करना चाहिये उसे पहले करते हैं । इसीसे व्यासजीने उन्हें मन्दबुद्धि कहा है ।

विस्तारपूर्वक आप श्रीकृष्ण-कथा सुनाइये । जैसे कृष्ण-कथासे तृप्ति नहीं होती, वैसे ही दर्शनसे भी तृप्ति नहीं होती ।

द्वारकाके कृष्णका स्वरूप दिव्य है। श्रीनाथजीका स्वरूप मनोहर है। दर्शनसे तृप्ति नहीं होती। भगवान्‌की मङ्गलमयी अवतार-कथाओंका वर्णन कीजिये। भगवान्‌की लीला-कथा सुनकर हम कभी तृप्त होते ही नहीं हैं। सूतजी! आप भगवान्‌की लीला-कथा सुनाइये।

कलियुगमें जब अधर्म बढ़ता है, तब धर्म किसका आश्रय लेता है?

समुद्र पार करनेवालेको जैसे कर्णधारका आसरा है, वैसे ही आप हमें मिले हैं। भगवन्! आप हमारे केवट हैं। कुछ इस रीतिसे आप कथा सुनायें कि जिससे हमारे हृदय द्रवित हो जाय। प्रभुकी कृपाके कारण ही आप हमें मिले हैं।

परमात्मासे मिलनेकी आतुरताके कारण ही संतका मिलन होता है। जीव जब परमात्मासे मिलनेके लिये आतुर होता है, तब परमात्माकी कृपासे संत मिलते हैं।

स्वाद भोजनमें नहीं है, भूखके कारण ही है।

मनुष्यको परमात्माके मिलनकी भूख जबतक न लगे, तबतक संतके मिलनेपर भी उसके प्रति सद्भाव नहीं जागता। इसका एक ही कारण है कि जीवको भगवद्दर्शनकी इच्छा ही नहीं हुई है।

वक्ताका अधिकार सिद्ध होना चाहिये और श्रोताके भी अधिकार सिद्ध होने चाहिये।

श्रवणके तीन प्रधान अङ्ग हैं—

१–श्रद्धा–श्रोताओंको चाहिये कि वे मनको एकाग्र करके श्रद्धासे कथा सुनें।

२–जिज्ञासा–श्रोताको जिज्ञासु होना चाहिये। जिज्ञासाके अभावमें मन एकाग्र नहीं होगा और कथाका कोई असर भी न होगा। बहुत कुछ जाननेकी जिज्ञासा न होगी तो कथाश्रवणसे कोई विशेष लाभ न होगा।

३–निर्मत्सरता–श्रोताके मनमें जगत्‌के किसी भी जीवके प्रति मत्सर नहीं होना चाहिये। कथामें दीन और विनम्र होकर जाना चाहिये। पापको छोड़कर, भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र आतुरताकी भावनासे कथाश्रवण करोगे तो भगवान्‌के दर्शन होंगे।

प्रथम स्कन्धमें शिष्यका अधिकार वर्णित है।

एक महात्मा रामायणकी कथा सुना रहे थे। कथा समाप्त होनेपर किसी श्रोताने महात्मासे पूछा कि कथा तो सुनी; पर मुझे यह नहीं समझमें आया कि राम राक्षस थे या रावण। तब महात्माने उत्तर दिया कि न तो राम राक्षस थे और न रावण। राक्षस तो मैं ही हूँ कि जो तुझे कुछ समझा न सका। सो वक्ता भी वैसा हो जो भगवान्‌की कथाका रस पी चुका हो और पिलाना जानता हो। भगवान्‌की कथा अमृतका रस है।

परमात्माकी कथा बार-बार सुनोगे, तो प्रभुके प्रति प्रेमभाव जगेगा।

शौनक मुनिने सूतजीसे कहा—भगवत्-कथामें हमारी श्रद्धा है। आपके प्रति हमारा आदर है। अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय होनेपर ही अधिकारी वक्ताके मुखसे कथा सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता है।

प्रथम श्रवण-भक्ति है। रुक्मिणीजीने अपने पत्रमें लिखा था कि आपकी कथा सुनकर ही मेरी आपसे विवाह करनेकी इच्छा हुई थी; 'श्रुत्वा' शब्द वहाँ है।

भगवान्‌के गुण सुननेसे उनके लिये प्रेमभाव उत्पन्न होता है।

श्रोता और वक्ता दोनों विनयी होने चाहिये। सूतजी श्रोताओंको साधुवाद देते हैं। वे कहते हैं—कथा सुनकर तुम्हें जो करना चाहिये वह तो तुम करते हो। तुम शान्तिसे सुनते हो तो मेरा मन भी भगवान्‌में स्थिर होता है। तुम ज्ञानी हो। प्रभुप्रेममें पागल हो। परंतु मेरा कल्याण करनेके लिये प्रश्न पूछते हो। कथा सुनाकर मैं तो अपनी वाणीको पवित्र करूँगा।

शिवमहिम्नःस्तोत्रमें पुष्पदन्तने भी कहा है कि शिव-तत्त्वका वर्णन वैसे तो कौन कर सकता है! पर फिर भी मैं तो अपनी वाणीको पवित्र करने चला हूँ—

मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः।
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता॥

आरम्भमें सूतजी श्रीशुकदेवजीको वन्दन करते हैं। फिर भगवान् नारायणको वन्दन करते हैं—**'नारायणं नमस्कृत्य।'**

भारतके प्रधान देव नारायण हैं। श्रीकृष्ण गोलोकमें पधारे। सभी अवतारोंकी समाप्ति हुई; किंतु नारायणकी न तो समाप्ति हुई है और न होगी। भारतकी प्रजाका कल्याण करनेके लिये वे आज भी तपश्चर्या कर रहे हैं।

श्रीशंकराचार्यको नर-नारायणका दर्शन हुआ तो उन्होंने कहा कि मैं तो महान् योगी हूँ, इससे आपका दर्शन कर सका हूँ; किंतु कलियुगके भोगी-जन भी आपके दर्शन कर सकें, ऐसी कृपा कीजिये। भगवान्ने उन्हें बदरीनारायणके नारदकुण्डमें स्नान करनेका आदेश दिया और कहा—वहाँसे तुम्हें मेरी जो मूर्ति मिले उसकी स्थापना करना। बदरी-नारायण भगवान्की स्थापना शंकरस्वामीने की है। शंकराचार्यका प्रथम ग्रन्थ है—विष्णु-सहस्रनामकी टीका।

मनसे मानस-दर्शनका पुण्य बहुत लिखा गया है। नारायणको मनसे प्रणाम करो। 'जो जाये बदरी उसकी काया सुधरी।'

बदरीनारायण-तीर्थमें लक्ष्मीकी मूर्ति मन्दिरके बाहर है। तपश्चर्यामें स्त्री, द्रव्य और बालकका सङ्ग बाधादायी है। नारायणने लक्ष्मीजीसे कहा—'तुम बाहर बैठकर ध्यान धरो, मैं अंदर बैठकर ध्यान धरूँगा।'

एक भक्तने बदरीनारायणके पुजारीसे पूछा कि 'इतनी कड़ाकेकी सर्दीमें चन्दनसे ठाकुरजीकी पूजा क्यों करते हैं ?' पुजारीने उत्तर दिया—'अपने ठाकुरजी कठोर तपश्चर्या करते हैं। इससे शक्ति बढ़ती है। सो ठाकुरजीको बहुत गर्मी लगती है, अतएव चन्दनसे पूजा की जाती है।'

सूतजी सरस्वती और व्यासजीकी वन्दना करके कथाका आरम्भ करते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० १।२।६)

जिस धर्मसे मनुष्यके दिलमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति जगे, वही धर्म श्रेष्ठ है। भक्ति भी ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें किसी भी प्रकारकी कामना न हो। निष्काम तथा निरन्तर भक्तिसे हृदय आनन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति करके कृतकृत्य हो जाता है। (क्रमशः)

गोपालसे श्रीनाथ

(लेखक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

माधवेन्द्र पुरी भारतके प्रसिद्ध संत हुए हैं। वे संवत् १५२५-२६ में तीर्थयात्रा करते हुए मथुरा पहुँचे थे। एक दिन वे गोवर्धनकी परिक्रमाके बाद गोविन्द-कुण्डमें स्नानकर एक वृक्षके नीचे विश्राम कर रहे थे। संध्या हो गयी थी। इसी बीच एक बर्तनमें दूध लेकर दस-बारह सालका एक साँवला-सलोना लड़का आया और बोला—'आज आपने कुछ नहीं खाया, यह दूध पी लीजिये।' पुरीजीने आश्चर्यके साथ कहा—'तुम्हें कैसे पता कि नहीं खाया ?' लड़का बोला—'मेरी माँ पानी भरने आयी थी, वह आपको देख गयी है।'

वह लड़का चला गया, पर वह रातको पुरीजीके स्वप्नमें आया और कहने लगा—'मैं गोपाल हूँ। मैंने ही यह गोवर्धन धारण किया था। यवन-अत्याचारोंके भयसे मेरे पुजारी मुझे यहाँ मिट्टीमें दबाकर चले गये थे। करीब चार सौ सालसे दबा पड़ा हूँ, अब निकाल लो।'

सुबह हुई। पुरी महाशयने सपनेकी बात गाँव-वालोंसे कही। सबने मिलकर सपनेमें बतायी जगहको खोदा तो सचमुच एक सुन्दर गोपाल-मूर्ति निकली। वहीं पर्वतपर एक कुटीका निर्माण कर गोपालकी सेवा शुरू की गयी। बादमें संवत् १५३७ में जब आगरा-वासी श्रीपूरनमल क्षत्रियने वहाँ एक पक्का मन्दिर बनवा दिया, तब वह स्थान गोपालपुर गाँवमें बदल गया।

दो साल बाद गोपालदेवने पुरीराजसे सपनेमें कहा—'इतने दिन मिट्टीमें दबे रहनेसे मेरे शरीरमें जलन होने लगी है। पुरीधामसे चन्दन लाकर मेरे शरीरपर लेप करो।'

माधवेन्द्र अपने शिष्योंपर सेवा-भार छोड़कर पुरी चल पड़े। रास्तेमें एक दिन रेमुना (उड़ीसा) के प्रसिद्ध गोपीनाथ-मन्दिरमें आ पहुँचे। उन्होंने सुन रखा था कि गोपीनाथजीको रोज खीर भोग लगायी जाती

है। उनके मनमें आया कि थोड़ी-सी खीर खानेको मिल जाय तो लौटकर वैसी खीर मैं अपने गोपालजीको भी भोग लगाया करूँ। पर संकोचवश उन्होंने न तो खीर माँगी और न किसीने उन्हें दी। अन्तमें भक्तवत्सल गोपीनाथको ही व्यवस्था करनी पड़ी। उन्होंने एक शकोरा खीर चुराकर अपने सिंहासनके नीचे रख ली। रातको जब माधवेन्द्र सो गये, तब गोपीनाथने सपनेमें पुजारीसे कहा—'मेरा एक भक्त माधवेन्द्र बाहर सो रहा है। उसके लिये मैंने एक शकोरा खीर सिंहासनके नीचे छिपा रखी है। तुम वह खीर उसे दे दो।' पुजारी हड़बड़ाकर उठा और उसी समय स्नान कर मन्दिर खोला। देखा कि खीरका एक शकोरा सचमुच सिंहासनके नीचे रखा हुआ है। पुजारी माधवेन्द्रका नाम लेकर पुकारने लगा। माधवेन्द्रकी नींद टूटी। पुजारीने सारी बात बताकर खीर-पात्र उन्हें दे दिया। सुनकर पुरीराजकी आँखोंसे आँसू बरसने लगे। गोपीनाथ आज भी 'खीरचोरा' नामसे प्रसिद्ध हैं। माधवेन्द्रने खीर तो खायी ही, मिट्टीके उस पात्रको भी चूर्ण बनाकर एक वस्त्रमें बाँध लिया।

माधवेन्द्रकी ख्याति पुरी धामतक पहुँच चुकी थी, अतः उन्हें चन्दन-संग्रह करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। इस काममें राजकर्मचारियोंने भी सहायता की। एक मन चन्दन और बीस तोला कपूर संग्रहकर माधवेन्द्र वापस लौटने लगे। रेमुना पहुँचकर गोपीनाथजीके पुनः दर्शन किये। इतना सब सामान लेकर मथुरातक पहुँचनेमें पुरीराजको कष्ट होगा, यह सोचकर गोपालदेवने रातको सपनेमें कहा—'माधवेन्द्र! गोपीनाथमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं। तुम सारा चन्दन-कपूर गोपीनाथके अङ्गपर लेप करा दो, मेरी ज्वाला इसीसे शान्त हो जायगी।'

श्रीमाधवेन्द्र संवत् १५४० (सन् १४८३) में शरीर छोड़ चुके थे। इधर १५५५ में यवन बादशाह सिकन्दर लोदीके काजियोंने मथुराके मन्दिरोंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया था। प्रसिद्ध संत दार्शनिक बल्लभाचार्य तीर्थ-भ्रमण करते हुए मथुरा पहुँचे तो देखा कि सारे मन्दिर नष्ट हो चुके हैं। अत्याचारी व्रजवासियोंको यमुना-स्नानतक नहीं करने देते। श्रीवल्लभने अपने शिष्योंसहित विश्रामघाटपर हठात् स्नान किया। उन्हें देखकर सारा नगर उमड़ पड़ा। उस अपार भीड़को देखकर प्रहरी और क़ाज़ी चुपचाप खिसक गये। अत्याचारियोंने गोपाल-मन्दिर भी तोड़फोड़ दिया था। पुजारीलोग भयके मारे गोपालजीको गोवर्धनसे एक मील दूर श्यामढाक नामक स्थानमें ले जाकर पूजा करने लगे थे। संवत् १५७६ में जब वह मन्दिर ठीक हुआ, तब गोपालजीको पुनः उसीमें प्रतिष्ठित किया गया।

वल्लभाचार्यने बाल्यकालमें काशीमें माधवेन्द्रपुरीके निकट विद्याध्ययन किया था और वे पंद्रह वर्षकी अवस्थामें देशके श्रेष्ठ पण्डितोंमें गिने जाने लगे थे। माधवेन्द्रके ठाकुर गोपालदेव इसीलिये उन्हें इतने प्रिय थे।

वल्लभाचार्यके बाद गोपालमूर्तिकी सेवाका भार उनके कनिष्ठ पुत्र श्रीविट्ठलनाथ और पौत्र श्रीगिरधर गोस्वामीके हाथोंमें आया। इस बीच ठाकुरजीका नाम भी गोपालसे गोवर्धननाथ पड़ गया था।

संवत् १७२५ में व्रजके मन्दिरोंपर औरंगजेबके अत्याचार शुरू हुए, तो वल्लभाचार्य-वंशके गोस्वामी लोग गोवर्धननाथको गुप्तरूपसे उदयपुर राजधानीके बीच सिंहार नामक स्थानमें ले गये। वहाँ उदयपुरके राणाने मन्दिर बनवा दिया।

राजस्थानका प्रसिद्ध नाथद्वारा शहर उसी स्थानका आधुनिक विकसित रूप और नाथद्वारा-मन्दिरके 'श्रीनाथजी' माधवेन्द्र पुरीके वही गोपालदेव हैं।



गीता-माधुर्य—(३)

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[तीसरा अध्याय]

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके मतमें जब बुद्धि (समता) ही श्रेष्ठ है, तो फिर हे कृष्ण ! आप मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? तथा आप कभी कहते हैं—कर्म करो और कभी कहते हैं—बुद्धिकी शरण लो । आपके इन मिले हुए वचनोंसे मेरी बुद्धि मोहित-सी हो रही है । इसलिये एक निश्चित बात कहिये, जिससे मैं श्रेयको प्राप्त हो जाऊँ ॥ १-२ ॥

भगवान् बोले—भैया ! मैंने पहले सांख्ययोगियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी कर्मयोगसे एक ही बुद्धि (निष्ठा) दो प्रकारसे कही है अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगसे एक ही बुद्धि (समता) की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

उसकी प्राप्तिके लिये क्या कर्म करना जरूरी है ?

उस समताकी प्राप्ति कर्मोंका आरम्भ किये बिना भी नहीं होती और कर्मोंके त्यागसे भी नहीं होती ॥ ४ ॥

कर्मोंके त्यागसे क्यों नहीं होती ?

कर्मोंका सर्वथा त्याग कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है । उस क्रियाशील प्रकृतिके गुणोंके परवश हुआ प्राणी कर्मोंका त्याग कैसे कर सकता है ? ॥ ५ ॥

कर क्यों नहीं सकता, कर तो सकता ही है ! चुपचाप बैठा रहे, कुछ भी करे नहीं तो कर्मोंका त्याग हो गया न ?

जो चुपचाप बैठकर अर्थात् इन्द्रियोंको केवल बाहरसे रोककर मनसे विषयोंका चिन्तन करता है, तो उसका वह चुपचाप बैठना कर्म न करना नहीं है; किंतु उसका चुपचाप बैठना मिथ्याचार है ॥ ६ ॥

आपने जो बुद्धि (निष्ठा) बतायी, उसकी प्राप्ति न कर्मोंके किये बिना होती है, न कर्मोंके त्यागसे होती है और न चुपचाप बैठकर मनसे विषयोंका चिन्तन करनेसे होती है, तो फिर उसकी प्राप्ति किससे होती है ?

मनसे इन्द्रियोंका नियमन करके जो कर्मयोग (निष्काम-भावपूर्वक अपने कर्तव्य कर्मों) का अनुष्ठान करता है, वह श्रेष्ठ है अर्थात् उसको उस बुद्धिकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिये तुम नियत कर्म करो; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा उपर्युक्त विधिसे कर्तव्य-कर्म करना श्रेष्ठ है । और तो क्या, बिना कर्तव्य-कर्म किये तुम्हारे शरीरका निर्वाह भी नहीं होगा । इसलिये तुम्हें कर्तव्य-कर्मोंको करना ही पड़ेगा ॥ ७-८ ॥

कर्मोंको करनेसे बन्धन तो नहीं होगा भगवन् ?

नहीं ! जब उस यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)को केवल अपने लिये करोगे, तब बन्धन होगा । इसलिये तुम आसक्तिरहित होकर यज्ञ-(कर्तव्य-कर्म)को केवल कर्तव्य-परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही करो ॥ ९ ॥

मैं कर्म करूँ ही क्यों ?

अरे भैया ! पहले (सर्गके आदिमें) ब्रह्माजीने भी यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) सहित प्रजा (मनुष्यों)की रचना करके उनसे यही कहा था कि तुमलोग इस कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ । यह यज्ञ तुम्हें कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

यह यज्ञ हम किस भावसे करें पितामह ?

इसके द्वारा तुम देवताओंकी वृद्धि करो और देवता तुम्हारी वृद्धि करें । इस तरह एक-दूसरेकी वृद्धि करनेसे अर्थात् अपने लिये कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करनेसे तुम सब परमश्रेयको—परमात्माको प्राप्त हो जाओगे ॥ ११ ॥

पितामह ! अगर हम यज्ञ न करें तो ?

तुम्हारे कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए देवता तुम्हारेको कर्तव्य-पालन करनेकी आवश्यक सामग्री तो दे देंगे; परंतु यदि तुमलोग उस कर्तव्य-पालनकी सामग्रीसे देवताओंकी पुष्टि न करके अपना ही सुख-आराम भोगोगे, तो तुम चोर बन जाओगे ॥ १२ ॥

इस दोषसे कैसे बचें भगवन् ?

इसलिये भैया ! जो केवल कर्तव्य-परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये ही अर्थात् दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्यकर्म करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो केवल अपने

सुख-आरामके लिये ही कर्म करते हैं, वे पापी केवल पाप ही कमाते हैं ॥ १३ ॥

भगवन् ! अभी आपने कर्तव्य-कर्मके विषयमें ब्रह्माजीकी आज्ञा सुनायी । अब मैं यह पूछना चाहता हूँ कि मनुष्यको सृष्टि-चक्रके लिये भी कर्तव्य-कर्म करना जरूरी है क्या ?

हाँ, बहुत जरूरी है; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे पैदा होते हैं और अन्न वर्षासे पैदा होता है । वर्षा यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)से होती है और यज्ञ (कर्तव्यकर्म) करनेवाले मनुष्य होते हैं । मनुष्योंको यज्ञकी विधि बतलानेवाले वेद हैं । वे वेद परमात्मासे प्रकट होते हैं । इसलिये सबमें वे परमात्मा ही परिपूर्ण हुए, पर उन परमात्माकी प्राप्ति केवल अपना कर्तव्यपालन करनेसे ही होती है । अतः सृष्टि-चक्रके लिये अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना मनुष्योंके लिये बहुत जरूरी है ॥ १४-१५ ॥

अगर कोई इस सृष्टि-चक्रके लिये अपने कर्तव्य-का पालन न करे तो ?

जो इस सृष्टि-चक्रकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये कर्तव्य-कर्म नहीं करता, उसका इस संसारमें जीना व्यर्थ है अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है ॥ १६ ॥

कोई आसक्तिरहित होकर आपकी आज्ञाके अनुसार केवल सृष्टि-चक्रकी परम्परा रखनेके लिये ही कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान करे तो ?

वह अपने-आपमें ही रमण करनेवाला, अपने-आपमें ही तृप्त और अपने-आपमें ही संतुष्ट हो जाता है । फिर उसको कुछ भी करना बाकी नहीं रहता; क्योंकि उसका न कर्म करनेसे कोई मतलब रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई मतलब रहता है तथा उसका किसी भी प्राणीके साथ कोई भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥१७-१८ ॥

मैं भी ऐसा बन सकता हूँ भगवन् ?

हाँ, तुम आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करो; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

पहले आसक्तिरहित होकर किसीने कर्म किये भी हैं और उनको क्या परमात्माकी प्राप्ति भी हुई है ?

हाँ, जनक आदि तो कर्तव्य-कर्म करके ही परमात्माको प्राप्त हुए हैं । परमात्माको प्राप्त होनेपर भी उन्होंने लोक-संग्रह(दुनियाको कुमार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लाने)के लिये कर्म किये हैं । इसलिये तुम भी लोकसंग्रहको ध्यानमें रखते हुए अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करो ॥ २० ॥

वह लोकसंग्रह कैसे होता है ?

दो प्रकारसे होता है—स्वयंकी कर्तव्य-परायणतासे और वचनसे । श्रेष्ठ पुरुष स्वयं तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मोंको करते हैं तो लोग वैसे ही कर्म करते हैं और श्रेष्ठ पुरुष अपने वचनोंद्वारा प्रमाणित कर देते हैं तो लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं ॥ २१ ॥

जैसे आपने परमात्मप्राप्तिके विषयमें जनक आदिका उदाहरण दिया, ऐसे ही लोक-संग्रहके विषयमें भी क्या कोई उदाहरण है ?

हाँ, मेरा ही उदाहरण लो ! मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है और प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है, फिर भी मैं कर्तव्य-कर्मका ही आचरण करता हूँ ॥ २२ ॥

आपके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी क्या जरूरत है भगवन् ?

हाँ, जरूरत है; क्योंकि अगर मैं निरालस्य होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ, तो लोग मेरा ही अनुवर्तन करेंगे अर्थात् कर्तव्य-कर्म करना छोड़ देंगे ॥ २३ ॥

इससे क्या होगा भगवन् ?

अगर मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो अपना-अपना कर्तव्य-कर्म न करनेसे सब लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और सब तरहके संकर-दोषोंको करनेवाला मैं ही बनूँगा ॥ २४ ॥

इस दृष्टिसे आपके लिये तो लोकसंग्रहार्थ कर्तव्य-कर्म करना बहुत जरूरी है, पर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये भी कर्तव्य-कर्म करना जरूरी है क्या ?

हाँ, जरूरी ही नहीं, बहुत जरूरी है ! जैसे अज्ञानी मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर फलेच्छापूर्वक कर्मोंको तत्परतासे करते हैं, ऐसे ही आसक्तिरहित ज्ञानी पुरुषको भी लोक-संग्रहके लिये कर्मोंको तत्परतासे करना चाहिये । ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्त उन अज्ञानियोंकी बुद्धिमें

किसी प्रकारका भ्रम पैदा न करके बड़ी सावधानीसे स्वयं कर्म करे तथा उनसे कर्म करवाये ॥ २५-२६ ॥

अविद्वान् और विद्वान्—इनके कर्मोंके करनेमें क्या अन्तर होता है ?

अविद्वान् प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको 'मैं करता हूँ' ऐसा मानकर मोहित हो जाता है अर्थात् उनमें आसक्त हो जाता है और विद्वान् 'सम्पूर्ण गुण गुणोंमें ही बरत रहे हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं' ऐसा अनुभव करके उनमें आसक्त नहीं होता अर्थात् मोहित नहीं होता ॥ २७-२८ ॥

जितनी जिम्मेवारी आपपर है, उतनी ही जिम्मेवारी क्या ज्ञानीपर भी होती है ?

नहीं ! ज्ञानी अज्ञानीकी तरह कर्म न करे तो कोई बात नहीं, पर ज्ञानी किसी भी रीतिसे कम-से-कम अज्ञानीको विचलित न करे ॥ २९ ॥

पर मैं तो विचलित हो जाता हूँ भगवन् ! क्या करूँ ?

तू सब कर्म मेरे अर्पण करके और आशा, ममता तथा सन्ताप-रहित होकर युद्ध (कर्तव्य-कर्म) कर ॥ ३० ॥

ऐसा करनेसे क्या होता है ?

जो दोषदृष्टिरहित होकर श्रद्धासे मेरे इस मतका अनुष्ठान करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

न करनेसे क्या होता है ?

दोषदृष्टि रखते हुए जो मेरे मतका अनुष्ठान नहीं करते, उन मूर्खोंको तुम नष्ट हुए ही समझो ॥ ३२ ॥

आपके मतका अनुष्ठान न करनेसे उनका पतन क्यों होता है ?

ज्ञानी तो अपनी शुद्ध प्रकृति- (राग-द्वेषरहित स्वभाव)-के अनुसार क्रिया करता है । पर ये मनुष्य अपनी दूषित प्रकृति (राग-द्वेषयुक्त स्वभाव)के अनुसार कर्म करते हैं; अतः उनका पतन हो जाता है ॥ ३३ ॥

पतन न हो जाय, इसका क्या उपाय है ?

मनुष्य राग-द्वेषके वशीभूत होकर कर्म न करे; क्योंकि ये दोनों ही मनुष्यके शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

तो फिर मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

अपने धर्मका पालन करना चाहिये । गुणोंकी कमीवाले अपने धर्म (कर्तव्य)का पालन करते हुए अगर मृत्यु भी हो जाय, तो वह (अपने धर्मका अनुष्ठान) कल्याण करनेवाला है और दूसरोंका धर्म कितना ही गुणवाला होनेपर भी भय देनेवाला है ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—जब अपने धर्मका अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है, तब फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर अधर्म (पाप)का आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला जो काम (कामना) है, वह कभी भी तृप्त होनेवाला नहीं है और बड़ा ही दुष्ट है । इस विषयमें तू इसको ही वैरी समझ अर्थात् पाप करानेवाला समझ ॥ ३७ ॥

वह कामके वशीभूत होकर कैसे पाप करता है ?

जैसे धुआँ अग्निको, मैल दर्पणको और जेर गर्भको ढक देता है, ऐसे ही यह काम (कामना) पाप न करनेकी इच्छाको दबाकर पापमें लगाता है । कारण कि यह काम अग्निकी तरह कभी तृप्त न होनेवाला है । यह विवेकी साधकोंका नित्य वैरी है । इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढक जाता है ॥ ३८-३९ ॥

ऐसा वह काम रहता कहाँ है ?

वह काम इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीनों स्थानोंमें रहकर जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

उस कामका नाश कैसे करें ?

सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले महापापी कामको मार ॥ ४१ ॥

परंतु भगवन् ! ऐसे महापापी कामको मारनेका उत्साह कैसे आये ?

शरीरसे इन्द्रियाँ पर अर्थात् श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म हैं, इन्द्रियोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे काम पर है । कामको ऐसा 'पर' जानकर अपनेद्वारा अपने-आपको वशमें करके कामको मार दे ॥ ४२-४३ ॥

(क्रमशः)

सच्चा बालक

[कहानी]

(लेखक—श्रीदुर्गाशंकरजी व्यास)

राम प्रतिदिन अपने पिताके रमणीक बगीचेमें भ्रमण करने जाया करता था। उसके साथ उसके कुछ मित्र भी रहते थे। वहाँ वे सब खूब खेलते, लेकिन किसी पुष्प, पौधे, वृक्ष और लताको हानि नहीं पहुँचने देते थे; क्योंकि रामके पिताकी इसके लिये विशेष हिदायत थी।

रामका पिता विनोद प्रकृतिका पुजारी था। वह प्रकृतिके प्रत्येक अङ्गमें सुन्दरता और हृदयग्राह्यता ढूँढ़ निकालता। उसे प्रकृति-निरीक्षणमें इतना आनन्द आता कि वह अपना काम-काज भी भूल जाया करता था। अपनी मनस्तुष्टिके लिये उसने अपनी कोठीकी बगलमें एक बहुत सुन्दर बगीचा लगा दिया था। अमृतसरमें जितने भी बगीचे थे, उन सबमें विनोदबाबूकी वाटिका सर्वाधिक प्रसिद्ध थी। उसमें उसने रंग-बिरंगे फूल-पौधे और लताएँ तथा फलोंके कुछ पेड़ खुद अपने हाथोंसे लगाये थे। नित्यप्रति कचहरी जानेसे पहले और शामको लौटनेपर वह अपने बगीचेमें ही देखा जाता था। यही कारण था कि वह अपने प्यारे बच्चेको आदेशपूर्ण शब्दोंमें कहा करता—'राम! याद रखना, किसी पौधे आदिको किसी प्रकारकी हानि न पहुँचने पाये। यदि ऐसा तुमसे कभी अनजानमें भी हुआ तो मैं तुम्हारे साथ बुरी तरह पेश आऊँगा।'

बेचारा राम हाथ जोड़कर अत्यन्त भोलेपनसे कह देता—'पिताजी! मैं आपकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, आप विश्वास रखें।'

विनोद समझता था कि बालक समझदार है, आज्ञा-पालन करता है। इसलिये रामको उसने स्वच्छन्दता-पूर्वक मित्रोंसहित बगीचेमें खेलनेकी आज्ञा दे दी थी।

रामकी आयु आठ-दस वर्षकी थी। उसका शरीर भरा हुआ, आँखें बड़ी-बड़ी, रंग सुन्दर गोरा था। उसका स्वभाव मिलनसार था। यही कारण था कि उसके मित्र बहुत हो गये थे। एक बार रामकी उम्रका जो बालक उससे मिलता वह सदैवके लिये उसका हो रहता। बच्चे-बूढ़े सब उसे समानरूपसे प्यार करते थे। बगीचेमें जब उन छोटे-छोटे बालकोंका समूह खेला करता, उस समय ऐसा मालूम होता था मानो संसारका वास्तविक सुख उन्हींको प्राप्त है। प्रौढ़ व्यक्ति उनके खेलको देखकर ईर्ष्या किया करते थे। दूसरे बालक उनके सङ्ग खेलनेको लालायित रहते। अभिप्राय यह कि बालक-दल आनन्द-हिलोरमें व्यस्त रहता। राम उनमें चाँद और उसके मित्र सब सितारे बन जाते।

एक दिन सायंकाल यही दृश्य था। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। थोड़े ही समयके बाद वायुका वेग अधिक हो गया। आँधी चल पड़ी और साथ ही थोड़ी-थोड़ी वर्षाने मौसमकी मनोरमताको और भी बढ़ा दिया। बच्चे खुशीसे नाच उठे। बालक स्वभावसे ही चञ्चल होते हैं। चञ्चलताने रामके मनपर आधिपत्य जमा लिया। पिताके आदेशपर परदा छा गया। की हुई प्रतिज्ञा भूल गयी। पिताके कोपका उसे ध्यानतक न रहा।

खुशीमें सब बालक जब तन्मयतासे नाच रहे थे, रामने कहा—'मित्रो! ग्वालोंकी तरह हाथोंमें छड़ियाँ लेकर नाचो।' इतना कहना ही था कि पिताके लगाये हुए अत्यन्त सुन्दर और प्रिय दो-तीन पौधोंका सत्यानाश हो गया। वे खेलते रहे। जीभरकर खेले।

विनोद अपने नियमानुसार दूसरे दिन अपने बगीचेमें गया। सबसे पहले वह अपने उन्हीं प्रियतम पौधोंके दर्शन करने जाया करता था। उन्हीं पौधोंको बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हुआ देखा तो क्रोधाग्निसे उसका चेहरा लाल हो गया। उसकी नस-नसमें रक्त द्रुतगतिसे दौड़ने लगा। उसे वे पौधे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे थे। उनके नष्ट होनेसे मानो उसके प्राणोंको किसीने विक्षुब्ध कर डाला हो। वह निर्निंग-सा खड़ा उन पौधोंको निहारता रहा। नेत्रोंसे जल बहने लगा। किसी प्रेमीके प्रेमकेन्द्रका अस्तित्वहीन हो जाना किसीके लिये भी भयजनक प्रतीत होता है। विनोदने प्रण कर लिया कि वह इन पौधोंके शत्रुको पूरी-पूरी सजा देगा।

कोप-परिपूर्ण हृदयसे तथा लाल-आँखें किये वह घर आया। उसे सबसे पहले रामपर ही शङ्का हुई। आते ही उसने रामको पुकारा। पिताकी भयानक आकृति देखकर रामको कँपकँपी शुरू हो गयी। रामका मन किसी आगन्तुक दुःखसे पीड़ित होने लगा। वह हाथ जोड़कर पिताके सामने खड़ा हो गया और बोला—'पिताजी! क्या आज्ञा है?'

'आज्ञाका बच्चा! कल बगीचेमें क्या अनर्थ कर आया है?'

राम चुप था। उसकी जिह्वासे एक भी शब्द न निकल सका। वह चाहता था कि कुछ बोले, परंतु कण्ठ रुद्ध हो गया।

विनोदने कड़ककर कहा—'बगीचेमें उन पौधोंको किसने नष्ट किया है? अभी बता, नहीं तो मैं तुझे ठीक कर दूँगा।'

राम काँप उठा। वह समझ गया कि पिताको वे पौधे जानसे भी अधिक प्यारे थे। यदि उन्हें पता लगा कि पौधोंका नाश मुझसे हुआ है तो मेरी बुरी गति बनेगी।

इसलिये उसने विचारा कि झूठ बोलकर जान बचायी जा सकती है, किंतु झूठ; उसने फिर सोचा कि पिताजीको तो झूठसे बड़ी घिन है। वे सचाईके भक्त हैं। सत्यको वे स्वर्ग और झूठको मिटटी समझते हैं। सम्भवतः सच बोलनेसे उस (राम)की जान बच जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। भोला बालक इतनी देर चुपचाप खड़ा रहा।

पिताका क्रोधानल और भी प्रचण्ड होता जा रहा था। पैर पटकते हुए, वह रामके ऊपर झपटा और गरजकर बोला—'बोलता क्यों नहीं? जो बात है, उसे छिपानेसे अब क्या लाभ? मैं अब अधिक देर प्रतीक्षा नहीं कर सकता।' रामके पैरोंके नीचेसे पृथ्वी खिसकी जा रही थी! वह अत्यन्त असमंजसमें था। किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा। अन्तमें वह धीरेसे मुँह नीचा करके बोला।

'पिताजी! क्षमा करें।'

'क्या है?' पिताने फिर कड़ककर पूछा—'सच-सच कह!'

'क्या सच बोलनेसे बच सकता हूँ?' रामने दीनतापूर्वक पूछा।

'देखा जायगा।' विनोदने आँखें तरेरते हुए उत्तर दिया।

'पिताजी! सच····तो यह है कि····यह महान् अपराध····मुझसे ही····हुआ है। मैं····अपने मित्रोंके सहित····खेलते-खेलते····उन पौधोंके····नाशका···· कारण बना।' रामने लड़खड़ाती हुई भाषामें डरते-डरते कह दिया।

विनोद सत्यवादीसे परम प्रेम किया करता था। सत्य उसका इष्टदेव था।

छोटे-से बालकके श्रद्धापूर्वक सत्य-भाषणसे उसका सारा क्रोध उसी क्षण हवा हो गया। प्रत्युत वह

उल्लसित दिखायी देने लगा। बालकको, सच-सच बता देनेपर, उसने अपने बाहुपाशमें आबद्ध कर लिया। रामका सिर सूँघा उसने, प्यार किया और सहर्ष कहा— 'बेटा! मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ; क्योंकि तुमने सच कहा है। आज मैं तुम्हें सच बोलनेके उपलक्ष्यमें एक घड़ी इनाम दूँगा। मेरा सारा क्रोध दूर हो गया है। तुम भी अपने सब मित्रोंसे कहना कि आज तुमने सच बोलकर सबकी जान बचायी है और मुझे भी अनर्थसे बचाया है।'

राम पिताके ऐसे एकाएक परिवर्तनको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। ईश्वरको धन्यवाद दिया उसने कि उसकी प्रेरणासे सच बोलकर उसने अपने-आपको सुरक्षित पाया। सच है—'सत्यमेव जयति।'

मानस-शङ्का-समाधान

(श्रीगिरिधरजी मिश्र, प्रज्ञाचक्षु)

वनसे सुमन्त्रको विदा करते समय भगवान् श्रीराम उनसे भरतजीके लिये संदेश दे रहे हैं—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड १५१। ३-४)

भरतजीके सम्बन्धमें प्रजाजनोंका मत—

चंदु चवै बरु अनल कन सुधा होइ बिषतूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु भरत राम प्रतिकूल॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड ४८)

श्रीरामके सम्मुख भरतजीके प्रति कौसल्या माताका भाव —

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुखु लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड ५५)

उपर्युक्त बातोंके होते हुए भी भरतजीके प्रति भगवान् श्रीरामकी इस प्रकारकी (नीति त्यागनेकी) शङ्का समझमें नहीं आती, जबकि भगवान् श्रीराम उनके बाल-चरितसे परिचित हैं एवं चित्रकूटमें लक्ष्मणजीद्वारा भरतजीके प्रति कटु वाक्य कहे जानेपर स्वयं कहते हैं—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड २३१)

समाधान

पहली बात तो प्रजावर्गमें भी कुछ लोग ऐसे हैं जो भरतका सम्मत मानते हैं—

एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भायँ सुनि रहहीं॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड ४७। ६)

तो अयोध्यावासियोंमें भी कुछ-एक ऐसे अधम कोटिके व्यक्ति हैं जो भरतजीकी सम्मति कह रहे हैं, अतः भगवान्ने उनके अनुसार नैतिक व्यवहारसे यह बात कही। और दूसरी बात भगवान् भरतजीका प्रेम जानते हैं, पर जानकर भी प्रेमको सदा गुप्त रखा गया है। प्रेम गुप्त रखनेकी वस्तु ही है। इसलिये भगवान्ने **'लोकवल्लीलाकैवल्यम्'** ब्रह्मसूत्रके इस सूत्रके अनुसार लोक-लीला करनेके लिये, जैसा कि बड़ा भाई छोटे भाईको कहता है, वैसे उपदेशमें कभी शङ्का नहीं हुआ करती। गुरुदेव जो शिष्यको उपदेश करते हैं— **'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।'**—उपदेशमें शङ्का नहीं हुआ करती। उपदेश देना बड़ोंका एक कर्तव्य है। **'सत्यं वद, धर्मं चर'** यह वाक्य द्रोणाचार्यके द्वारा जैसे सामान्यतया दुर्योधन आदिके लिये कहा गया उसी प्रकार परम सत्यवादी युधिष्ठिरके लिये भी तो कहा गया है; जो कभी झूठ बोले ही नहीं। यदि वे असत्य

बोलते नहीं तो उनके लिये **'सत्यं वद'** का क्या प्रयोजन है ? तो यह उपदेश है, उपदेशमें कभी शङ्का नहीं होती। उपदेश तो कर्तव्यका सूचक है। बड़े भाईका कर्तव्य है, छोटे भाईको उपदेश देना। श्रीरामचन्द्रजी भरतजीके बड़े भ्राता हैं।

'भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हति ।'
(वा० रा० २ । १२)

तो भरतजी महाराजके श्रीराघवेन्द्रजी गुरु हुए।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥
(रा० च० मा० बालकाण्ड २०४ । ६)

रामजीके गुरु तो वसिष्ठजी हैं, किंतु भरतजी महाराज तो राघवेन्द्रजीको भी गुरु मानते हैं—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड २९७ । १)

अतः गुरुका जो कर्तव्य है, सामान्य लोगोंके लिये उन्होंने एक शिक्षा देते हुए कहा कि मैं भरतजीको शिक्षा दे रहा हूँ—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड १५१ । ३)

वह सबके लिये है। वे जानते हैं कि भरत नीति नहीं छोड़ेंगे, किंतु बादलका स्वभाव होता है वर्षण। अतः वह थलमें भी बरसता है और जलमें भी बरसता है, जबकि समुद्रके जलमें वर्षणका कोई महत्त्व नहीं है। यह उसका स्वभाव है। जैसे—**'थले जले चैव मेघो वर्षति सर्वदा'** उसी प्रकार गुरुजनोंका नीति-उपदेश करना कर्तव्य है; वे मूर्खके सामने जो उपदेश करेंगे, वही सत्यनिष्ठके सामने भी मर्यादाको निभानेके लिये करेंगे।

'मर्यादानां च लोकस्य कर्त्ता कारयिता च सः।'
(वा० रा० ५ । ११)

भगवान् लोककी मर्यादाका पालन करने तथा करानेवाले भी हैं। क्या सीताजी सर्वज्ञ होनेके कारण गङ्गाको प्रणाम करना नहीं जानतीं ? क्या गङ्गाको प्रणाम न कर लेतीं ? पर मर्यादा है, पत्नीको आदेश दिया जाता है—

पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता॥
(रा० च० मा० लंकाकाण्ड ११९ । ६)

उसी उदाहरणके अनुसार जानते हुए भी **'मनुज चरित कर अज अबिनासी'** (रा० च० मा० अरण्यकाण्ड २९ । १७) मानव-चरित्र करते हुए भगवान् अपना भगवत्त्व छिपाकर बड़े भाईका अभिनय कर रहे हैं। जैसे छोटे भाईको बड़ा भाई दूरदर्शिताका उपदेश देता है, उसी प्रकार उपदेश कर रहे हैं—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड १५१ । ३–५)

किंतु जहाँ वास्तविक बात कहनी होती है, जैसे लक्ष्मणके सामने, तो वहाँ भ्रातृत्व नहीं, वहाँ भगवान् ब्रह्म होकर बोल पड़ते हैं। चूँकि वहाँ देवता लोगोंने जब कह दिया—

अनुचित उचित काजु किछु होऊ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड २०३ । ३)

इसलिये वहाँ रामजी अब भ्राताके रूपमें नहीं, परब्रह्म होकर बोल रहे हैं—

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने। राम सीय सादर सनमाने॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड २३० । ५)

अतः राघवेन्द्रको शङ्का नहीं है, भरतके प्रति केवल उपदेशकी प्रक्रिया कर रहे हैं—

'कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
(रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड १५१ । ३)

भक्त-गाथा

[भक्त ब्राह्मणी]

दक्षिणके एक छोटेसे गाँवमें एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। घरमें चार प्राणी थे—ब्राह्मण, उसकी माता, पत्नी और एक छोटा-सा बालक। ब्राह्मणका नाम था—पाण्डुरंग और वह भगवान् पाण्डुरंगका ही भक्त था। पाण्डुरंगके पिता कर्मकाण्डी विद्वान् थे और उनसे पुत्रने कर्मकाण्डको पढ़ा ही नहीं था, अपितु उसका व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त किया था। कर्मकाण्ड उनकी जीविकाका साधन था। उस समय वस्तुएँ भी बहुत सस्ती थीं, उनका स्वभाव भी संयम और सादगी जीवनका था, अतः पाण्डुरंगकी गृहस्थीके चलनेमें कोई कठिनाई न थी। खाने-पीनेका अभाव नहीं था और संग्रह-परिग्रह तथा स्वाद-शौकीनीकी कल्पना भी नहीं थी। जीवनमें संतोष था और जहाँ संतोष होता है, वहीं श्रेष्ठ सुखकी प्राप्ति होती है। असंतोषी बहुत अधिक सम्पत्तिशाली होनेपर भी अभावकी अग्निमें जला करता है और संतोषी सर्वथा खाली हाथ होनेपर भी खुलकर हँसा करता है।

पाण्डुरंगको कोई चिन्ता न थी। घरमें माता और पत्नी दोनों ही साध्वी और संतोषी स्वभावकी थीं। इसलिये घरके काम-काजके अतिरिक्त उनका शेष सारा समय भगवच्चिन्तन, कथा-श्रवण तथा भगवन्नाम-कीर्तनमें बीतता था। पाण्डुरंग पढ़े-लिखे थे। वे रोज घरमें अपनी माता तथा पत्नीको विविध पुराणोंकी भक्तिमयी कथा सुनाया करते। भगवान् पाण्डुरंगका विग्रह था, वे उनकी भक्ति-श्रद्धापूर्वक पूजा करते। भगवान्के सामने सब मिलकर कीर्तन करते। कथा-कीर्तनमें छोटा बालक भी साथ रहता। उसमें शुद्ध संस्कार बढ़ते रहते। इसके अतिरिक्त तीनों ही प्राणी अलग-अलग भगवान्के नाम, गुण तथा स्वरूपका चिन्तन एवं ध्यान किया करते।

पाण्डुरंगकी माता अस्सी वर्षकी हो गयी थीं। वे शास्त्रविशारद कर्मठ-पतिकी पत्नी थीं और वैष्णव भक्त पुत्रकी माता थीं। उनका सारा जीवन कठोर संयम, सदाचार और शास्त्राज्ञा-पालनमें बीता था। उनके हृदयमें सदा ही भक्तिकी सरिता उमड़ती रहती थी। उनका अधिक समय भगवच्चिन्तनमें ही बीतता था। आषाढ़ी एकादशी समीप थी। अष्टमीके दिन माताने पुत्र तथा पुत्रवधूको पास बुलाकर कहा—'बेटा! अब मुझे भगवान् पाण्डुरंग बुला रहे हैं। एकादशीको प्रयाण करना है। अतः तीन दिनोंतक हमलोग अखण्ड कीर्तन करें और भगवान्से प्रार्थना करें कि वे मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करें।'

माताके आज्ञानुसार भगवान्के सम्मुख कीर्तन आरम्भ हो गया। घीका अखण्ड दीपक जला। धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल गयी। गली-मुहल्लेके लोग भी शामिल हो गये। बड़े उल्लासके साथ संकीर्तन आरम्भ हो गया। 'जय विट्ठल जय रखुमाई' के नाम-घोषसे आकाश गूँज उठा।

एकादशीको प्रातःकाल एक प्रहर बीतनेपर, जब तीन दिन पूरे होते थे, कीर्तन करती-करती वृद्धा ब्राह्मणी समाविस्थ हो गयीं। उनके मुँहसे भगवान्का नाम निकल रहा था और नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह रही थी। इतनेमें सब लोगोंने देखा—भगवान्के श्रीविग्रहमें चेतनता आ गयी। चतुर्भुज भगवान् विष्णु प्रकट हो गये। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे सुशोभित चार विशाल भुजाएँ, नीलश्यामसुन्दर वर्ण, मस्तकपर किरीट-मुकुट, बिखरी हुई काली-काली अलकावली, कानोंमें झिलमिल-झिलमिल करते मकराकृति कुण्डल, नेत्रोंसे करुणा और शान्तिकी ज्योतिधारा बह रही थी, अधरोष्ठोंपर मधुर मुसकान, सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए अत्यन्त

मधुर मनोहर सौन्दर्य-छटा ! सब लोग मुग्ध हो गये। पाण्डुरंगकी माताके नेत्र खुल गये और वे दौड़कर भगवान्‌के श्रीचरणोंसे लिपट गयीं। अश्रुधारासे उन्होंने भगवान्‌के चरण धो दिये। भगवान्‌ने मस्तकपर हाथ रखा और वृद्धादेवीके शरीरसे एक दिव्य ज्योति निकलकर भगवान्‌के श्रीचरणोंमें समा गयी। भगवान् अन्तर्धान हो गये। वृद्धाका शरीर वहीं भगवान्‌के श्रीविग्रहके चरणोंमें निष्प्राण होकर पड़ गया, परंतु अब भी उसके अंदरसे एक उज्ज्वल तेज छिटक रहा था।

बड़ा सुन्दर कीर्तन चल रहा था। भगवान्‌के प्रकट होनेपर तो उसमें और भी तेजी आ गयी। सब लोग मस्त होकर नाचने लगे। भगवान्‌के दर्शनसे उन सभीको एक नवीन जीवन प्राप्त हो गया। सब धन्य हो गये। वृद्धाकी भक्तिने सबको कृतकृत्य कर दिया।

वृद्धाके पुत्र पाण्डुरंगने माताकी और्ध्वदैहिक क्रिया शास्त्रानुसार की।

तदनन्तर उन्होंने अपने जीवनको सर्वथा भजनमय बना दिया। पति, पत्नी और पुत्र—तीनों ही परम भक्त हो गये और उन्होंने सहज संयमसे पवित्र जीवन बिताकर संसारसे सफल प्रयाण किया। उनकी मृत्यु तो मृत्युको मारनेवाली ही होनी चाहिये।

बोलिये भक्त और भगवान्‌की जय !

याचना

(रचयिता—श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !
यह निपट नश्वर देह,
यह बालुकाका गेह
फिर क्यों प्रबलतम स्नेह।
छलता यही संदेह—
क्या सत्य है, क्या कल्पना ?
कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !
क्या स्वास्थ्य है, क्या रोग ?
क्या मोक्ष है, क्या भोग ?
क्या विरह, क्या संयोग ?
हैं भ्रमित सारे लोग—
मुश्किल हुआ पहचानना !
कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !
क्या मान, क्या अपमान ?
क्या शाप, क्या वरदान ?
क्या जन्म, क्या अवसान ?
क्या ज्ञान, क्या अज्ञान ?
मैं चाहता हूँ जानना !
कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !
यह शब्दका संसार,
यह स्पर्शका व्यापार,
यह रूपका श्रृङ्गार,
रस-गंधका अभिसार।
किसकी करूँ अवमानना।
कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !
यह काम भीषण ज्वाल,
ये क्रोध-मद विकराल,
ये लोभ-मोह बवाल,
मत्सर महा चाण्डाल।
कैसे करूँ मैं सामना ?
कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !
बाहर चतुर्दिक् क्रान्ति,
भीतर अपरिमित भ्रान्ति,
कैसे मिले फिर शान्ति ?
प्रभु ! दो मुझे विश्रान्ति—
तुमसे यही बस, याचना,
कैसे करूँ मैं साधना,
किसकी करूँ आराधना !

गीताका कर्मयोग—७३

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ८, पृ०-सं० १२८ से आगे]

सम्बन्ध—*जो ज्ञानप्राप्तिका अपात्र है, ऐसे विवेक-हीन संशयात्मा पुरुषकी भगवान् अगले श्लोकमें निन्दा करते हैं*—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

भावार्थ—जिसका विवेक भी जाग्रत् नहीं हुआ है और जिसमें श्रद्धा भी नहीं है, ऐसे संशयशील पुरुषका पतन हो जाता है । ऐसे पुरुषको न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही सुख-शान्ति प्राप्त होती है ।

वास्तवमें संशयका होना अस्वाभाविक नहीं है, अपितु संशयको मिटानेकी चेष्टा न करना हानिकारक है । पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले साधकमें संशयोंका उत्पन्न होना स्वभाव-सिद्ध है । इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपने संशयको या तो स्वयं अपने विवेक-विचारके द्वारा मिटा दे अथवा संत-महापुरुषों या शास्त्रोंके वचनोंपर प्रत्यक्षकी भाँति श्रद्धा रखकर मिटा दे ।

अन्वय—अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, संशयात्मा, विनश्यति, संशयात्मनः, न, अयम्, लोकः, अस्ति, न, परः, च, न, सुखम् ॥ ४० ॥

पद-व्याख्या—**अज्ञः च अश्रद्दधानः संशयात्मा विनश्यति**—विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयशील पुरुषका पतन हो जाता है ।

जिस पुरुषका विवेक अभी जाग्रत् नहीं हुआ है तथा जितना विवेक जाग्रत् हुआ है, उसको महत्त्व नहीं देता और साथ ही जो अश्रद्धालु है, ऐसे संशययुक्त पुरुषका परमार्थ-मार्गसे पतन हो जाता है; कारण कि संशययुक्त पुरुषकी अपनी बुद्धि तो प्राकृत—शिक्षारहित है और दूसरेकी बातका आदर नहीं करता, फिर ऐसे पुरुषके संशय कैसे नष्ट हो सकते हैं ? और संशय नष्ट हुए बिना उसकी उन्नति भी कैसे हो सकती है ?

भिन्न-भिन्न बातोंको सुननेसे 'यह ठीक है अथवा वह ठीक है ?'—इस प्रकार संदेहयुक्त पुरुषका नाम संशयात्मा है । परमार्थपथपर चलनेवाले साधकमें संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है; क्योंकि वह किसी भी विषयको पढ़ेगा तो कुछ समझेगा और कुछ नहीं समझेगा । जिस विषयको कुछ नहीं समझते, उस विषयमें संशय उत्पन्न नहीं होता, और जिस विषयको पूरा समझते हैं, उस विषयमें संशय नहीं रहता । अतः संशय सदा अधूरे ज्ञानमें ही उत्पन्न होता है, इसीको अज्ञान कहते हैं* । इसलिये संशयका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है, अपितु संशयको बनाये रखना और उसे दूर करनेकी चेष्टा न करना ही महान् हानिकारक है । संशयको दूर करनेकी चेष्टा न करनेपर वह संशय ही 'सिद्धान्त' बन जाता है; और संशय दूर न होनेपर मनुष्य सोचता है

---

* अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है । अधूरे ज्ञानको पूरा ज्ञान मान लेना ही अज्ञान है; कारण कि परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें ज्ञानका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता, केवल नाशवान् असत्‌की सत्ता मानकर उसे महत्त्व दे देता है, असत्‌को असत् मानकर भी असत्‌से विमुख नहीं होता—यही उसका अज्ञान है । इसलिये मनुष्यमें जितना ज्ञान है, यदि उस ज्ञानके अनुसार वह अपना जीवन बना ले तो अज्ञान सर्वथा मिट जायगा और ज्ञान प्रकट हो जायगा; कारण कि अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं ।

कि परमार्थ-मार्गमें सब कुछ ढकोसला है और ऐसा सोचकर उसे छोड़ देता है तथा नास्तिक बन जाता है। परिणामस्वरूप उसका पतन हो जाता है। इसलिये अपने भीतर संशयका रहना साधकको बुरा लगना चाहिये। संशय बुरा लगनेपर जिज्ञासा जाग्रत् होती है, जिसकी पूर्ति होनेपर संशय-विनाशक ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

साधकका लक्षण है—खोज करना। यदि वह मन और इन्द्रियोंसे देखी बातको ही सत्य मान लेता है तो वहीं रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता। साधकको निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिये। जैसे मार्गपर चलते समय मनुष्य यह न देखे कि कितने मील आगे आ गये, अपितु यह देखे कि कितने मील अभी बाकी पड़े हैं। तब वह ठीक अपने लक्ष्यतक पहुँच जायगा। ऐसे ही साधक यह न देखे कि कितना जान लिया अर्थात् अपने जाने हुएपर संतोष न करे, अपितु जिस विषयको भलीभाँति नहीं जानता, उसे जाननेकी चेष्टा करता रहे। इसलिये संशयके रहते हुए कभी संतोष नहीं होना चाहिये, प्रत्युत जिज्ञासा अग्निकी तरह दहकती रहनी चाहिये। ऐसा होनेपर साधकका संशय संत-महात्माओंसे अथवा ग्रन्थोंसे, किसी-न-किसी प्रकारसे दूर हो ही जाता है। संशय दूर करनेवाला कोई न मिले तो भगवत्कृपासे उसका संशय दूर हो जायगा। भगवत्कृपासे संशय-संदेह, भ्रम मिट जाते हैं।

विशेष बात

भगवदुक्ति है—जीवात्मा मुझ परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५ । ७)। इसलिये जब उसमें अपने अंशी परमात्माको प्राप्त करनेकी भूख जाग्रत् होती है और उसकी पूर्ति न होनेका दुःख होता है, तब उस दुःखको भगवान् सह नहीं सकते। अतः उसकी पूर्ति भगवान् स्वतः करते हैं। ऐसे ही जब साधकको अपने भीतर स्थित संशयसे व्याकुलता या दुःख होता है, तब वह दुःख भगवान्‌को असह्य होता है। संशय दूर करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, अपितु जिस संशयको लेकर साधकको दुःख हो रहा है, उसे दूर करके भगवान् स्वतः उसका वह दुःख मिटा देते हैं। संशयात्मा पुरुषकी एक पुकार होती है, जो स्वतः भगवान्‌तक पहुँच जाती है।

संशयके कारण साधककी वास्तविक उन्नति रुक जाती है, इसलिये संशय दूर करनेमें ही उसका हित होता है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५ । २९), इसलिये जिस संशयको लेकर मनुष्य व्याकुल होता है और वह व्याकुलता उसे असह्य हो जाती है तो भगवान् उस संशयको किसी भी रीति—उपायसे दूर कर देते हैं। भूल यही होती है कि मनुष्य इस प्रकार जितना जान लेता है, उसीको पूरा समझकर अभिमान कर लेता है कि मैं ठीक जानता हूँ। यह अभिमान महान् पतन करनेवाला हो जाता है।

संशयात्मनः न अयम् लोकः अस्ति न परः च न सुखम्—संशयात्मा पुरुषके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख (ही) है।

दो भिन्न-भिन्न बातोंको पढ़ने-सुननेसे संशय उत्पन्न होता है। वह संशय या तो विवेक-विचारके द्वारा दूर हो सकता है, या शास्त्र तथा संत-महापुरुषोंकी बातोंको श्रद्धापूर्वक माननेसे। इसलिये संशययुक्त पुरुषमें यदि अज्ञता है तो वह विवेक-विचारको बढ़ाये और यदि अश्रद्धा है तो श्रद्धाको बढ़ाये; क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकको विशेषतासे अपनाये बिना संशय दूर नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोकमें ऐसे संशयात्मा पुरुषका वर्णन है, जो **'अज्ञ'** और **'अश्रद्दधानः'** है। तात्पर्य यह है कि भीतर संशय रहनेपर भी उस पुरुषकी न तो अपनी

विवेकवती बुद्धि है और न वह दूसरेकी बात ही मानता है। इसलिये उस संशयात्मा पुरुषका पतन हो जाता है। उसके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।*

संशयालु मनुष्यका इस लोकमें व्यवहार बिगड़ जाता है। कारण कि वह प्रत्येक विषयमें संशय करता है; जैसे—यह आदमी ठीक है या नहीं? यह भोजन ठीक है या नहीं? इसमें मेरा हित है या अहित? आदि। ऐसे संशयात्मा मनुष्यको परलोकमें भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि कल्याणमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी आवश्यकता होती है और संशयात्मा मनुष्य दुविधामें रहनेके कारण कोई एक निश्चय नहीं कर पाता; जैसे—जप करूँ या स्वाध्याय करूँ? संसारका काम करूँ या परमात्मप्राप्ति करूँ? आदि। भीतर संशय भरे रहनेके कारण उसके मनमें भी सुख-शान्ति नहीं रहती। इसलिये विवेकवती बुद्धि और श्रद्धाके द्वारा संशयको अवश्य ही मिटा देना चाहिये।

सम्बन्ध—कर्मयोगके अनुष्ठानमें जो बाधा होती है, उसे दूर करनेकी बात भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४१॥

भावार्थ—योग अर्थात् समताके द्वारा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है और ज्ञानके द्वारा संशयोंका नाश होता है। इसलिये योगका अनुभव होनेपर जिसका कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और कर्म-तत्त्वका ज्ञान होनेसे 'कर्म करते हुए ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे हो सकता है?' इस प्रकारके संशयोंका पूर्णतया छेदन हो गया है, ऐसे स्वरूप-परायण कर्मयोगीको कर्म नहीं बाँधते अर्थात् वह जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

अन्वय—**धनंजय, योगसंन्यस्तकर्माणम्, ज्ञानसंछिन्नसंशयम्, आत्मवन्तम्, कर्माणि, न, निबध्नन्ति॥४१॥**

पद-व्याख्या—**धनंजय**—हे धनंजय!

योगसंन्यस्तकर्माणम्—योग (समता) के द्वारा जिसका समस्त कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है—

योग समताका नाम है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। समतामें स्थित होकर किये गये कर्मोंसे मनुष्य बँधता नहीं†। इसीलिये दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको योगमें स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८)। कर्मोंमें योग ही कुशलता है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (२। ५०) अर्थात् महिमा योग (समता) की ही है, कर्मोंकी नहीं।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो वस्तुएँ हमें मिली हैं और हमारी दीखती हैं, वे सब दूसरोंकी सेवाके लिये ही हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। इस दृष्टिसे जब उन वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें (उनका ही मानकर) लगा दिया जाता है, तब कर्मों और वस्तुओंका प्रवाह संसारकी ओर ही हो जाता है और स्वयं उनसे रहित अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जिसने कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, वह पुरुष 'योगसंन्यस्तकर्मा' है।

जब कर्मयोगी कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए अथवा न करते हुए—दोनों अवस्थाओंमें नित्य-निरन्तर असङ्ग रहता है, तब वही वास्तवमें 'योगसंन्यस्तकर्मा' होता है।

ज्ञानसंछिन्नसंशयम्—(और) ज्ञानके द्वारा जिसके समस्त संशयोंका नाश हो गया है—

मनुष्यके भीतर प्रायः ये संशय रहते हैं कि कर्म करते हुए ही कर्मोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कैसे होगा?

* कुछ श्रद्धा कुछ दुष्टता कुछ संशय कुछ ज्ञान। घरका रहा न घाटका ज्यों धोबीका श्वान॥

† सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २। ३८)

अपने लिये कुछ न करें तो अपना कल्याण कैसे होगा ? आदि। परंतु जब वह कर्मोंके तत्त्वको भलीभाँति जान लेता है*, तब उसके समस्त संशय मिट जाते हैं। उसे इस बातका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि कर्मों और उनके फलोंका आदि और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये कर्ममात्रका सम्बन्ध 'पर' (संसार) के साथ है, 'स्व' (स्वरूप) के साथ कदापि नहीं। इस दृष्टिसे अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि अपना कल्याण दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ही होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं।

आत्मवन्तम्—(ऐसे) केवल स्वरूप-परायण पुरुषको—

कर्मयोगीका उद्देश्य स्वरूप-बोधको प्राप्त करनेका होता है, इसलिये वह सदा स्वरूपके परायण रहता है। उसके सम्पूर्ण कर्म संसारके लिये ही होते हैं। सेवा तो स्वरूपसे ही दूसरोंके लिये होती है, खाना-पीना, सोना-बैठना आदि जीवन-निर्वाहकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भी दूसरोंके लिये ही होती हैं; क्योंकि क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है, स्वरूपके साथ नहीं।

कर्माणि न निबध्नन्ति—कर्म नहीं बाँधते।

अपने लिये कोई भी कर्म न करनेसे कर्मयोगीका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् वह सदाके लिये सर्वथा संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता ४। २३)।

कर्म स्वरूपसे बन्धनकारक हैं ही नहीं। कर्मोंमें फलेच्छा, ममता, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान ही बाँधनेवाला है। (क्रमशः)

परमानन्द

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

दुःखमात्रकी पूर्ण निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको मोक्ष कहा गया है†। यह मोक्ष जबतक सिद्ध नहीं होता, तबतक जीवको शान्ति नहीं मिलती। बहुत-से लोगोंकी समझमें यह नहीं आता कि मुक्ति क्या है ? वस्तुतः मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। अन्य सबकी अपेक्षा मुक्तिप्राप्ति दुर्लभ है। भला, जिसके लिये कितने ही जीवोंने अनेक वर्षोंतक तप किया हो, वह सरल कैसे है ?

आत्मज्ञानके बिना मुक्ति नहीं मिलती। मुक्तिके विषयमें मतभेद हैं। बहुतोंका कहना है कि पुनः इस लोकमें जन्म न हो और स्वर्ग अथवा अन्य ऊँचे लोकोंमें जाना हो जाय, यही मुक्ति है; किंतु जैसे यह लोक नाशवान् है, उसी प्रकार कालक्रमसे स्वर्ग, वैकुण्ठ, गोलोक आदि भी नश्वर हैं। जैसे यहाँ अनेक प्रकारकी नीच-ऊँचकी संस्पर्द्धा है, उसी प्रकार अन्य दिव्य लोकोंमें भी है इससे वहाँ भी क्लेश ही हैं। स्वर्गादिके दिव्य भोग चाहे जैसे हों, वे सब नाशवान् ही हैं। स्वरूपके ज्ञानके बिना मुक्ति कभी भी सम्भव नहीं है। स्वरूप-ज्ञान कठिन तो है; पर शास्त्र उसके लिये उपाय बताते हैं।

साधकको इसके लिये प्रथम यह अभ्यास करना आवश्यक है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर, मन,

* कर्मोंके तत्त्वका वर्णन इसी अध्यायके सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतकके प्रकरणमें विशेषतासे हुआ है। उनमें भी अठारहवाँ श्लोक मुख्य है।

† शुद्ध वेदान्त-मतसे मोक्ष निर्दुःखसुखावस्था है।

*

बुद्धि, इन्द्रियाँ—इनमें कुछ भी तथा इन सबका समुदाय भी मैं नहीं हूँ, किंतु मैं असङ्ग आत्मा हूँ। ऐसा चिन्तन बार-बार करना चाहिये और इसके लिये नीचे लिखी पङ्क्तियोंपर मनन करना चाहिये।

नहीं देह, नहिं इन्द्रियाँ, नहीं बुद्धि नहीं मन।
नहीं जीव मैं आत्म हूँ, शुद्ध सच्चिदानंद॥

सम्भव हो तो प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल इस मन्त्रकी एक-एक माला जपनी चाहिये। यदि सम्भव न हो तो कम-से-कम एक माला तो दिनभरमें अवश्य जपनी चाहिये। मैं शरीर हूँ—ऐसा जबतक जीव मानता है, तबतक करोड़ों उपाय करनेपर भी शाश्वत सुख, अखण्ड शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। हम शरीर नहीं हैं, यह निश्चित है; परंतु फिर हम अपनेको शरीर मानकर ही सब व्यवहार करते हैं—तो इसे सर्वप्रथम बंद करना चाहिये। मैं शरीर नहीं, परंतु शरीर, मन, बुद्धिसे परे असङ्ग आत्मा हूँ—ऐसा चिन्तन करना चाहिये। यह बात वस्तुतः सत्य है, इसलिये ऐसा चिन्तन अवश्य-अवश्य शान्ति-प्रदायक होगा।

जगत्में दो वस्तुएँ हैं—एक दृश्य और दूसरा द्रष्टा। ये दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभावके हैं। वस्तुका स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं होता, वस्तुके रहनेतक स्वभाव रहता है। जो दृश्य है वह विकारी तथा विनाशी है और जो द्रष्टा है वह अविकारी तथा अविनाशी है। दृश्य प्रकृति और प्रकृतिका कार्य है तथा आत्मा द्रष्टा है, जो सबसे विलक्षण है।

हम जिसे देखते और जानते हैं—वह हम स्वयं नहीं है—यह बात सत्य है न? शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि सबको हम देखते हैं और जानते हैं—इससे हम इन सबसे अलग हैं। वह देखने और जाननेवाला हमारा आत्मा है। इस बातका बार-बार विचार और चिन्तन करना चाहिये। यह सहज ही निश्चित नहीं होता; कारण कि अनेक जन्मोंके संस्कार चित्तमें भरे पड़े हैं। वे विचार और सत्सङ्गके बिना नष्ट नहीं होते। अन्य बहुत-सी युक्तियोंसे यह निश्चित करना चाहिये कि शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदिसे हम अलग हैं। ये सब दृश्य हैं और हम द्रष्टा हैं, आत्मा सबका साक्षी है।

जन्म शरीरका होता है—बढ़ता भी है शरीर ही, क्षीण होता है शरीर और वृद्ध होकर नाश होता है शरीरका। सभी अवस्थाओंमें आत्मा तो वैसा-का-वैसा एकस्वरूप रहता है। वह आत्मा सब कुछ देखता है, और अनुभव करता है। वह साक्षी है। वह जन्मता नहीं, बढ़ता नहीं, क्षीण नहीं होता और मरता भी नहीं। उस आत्माको अग्नि नहीं जला सकती, अस्त्र-शस्त्र उसे काट नहीं सकते, छेदन नहीं कर सकते; जल उसे गीला नहीं कर सकता, पवन उसे सुखा नहीं सकता। वह सदा शान्त, निर्विकार, एकस्वरूप रहता है, वह न कुछ करता है, न कुछ कराता है न मरता है, न मारता है, और न मरवाता ही है। वह सदा एकरस, एकरूप, शान्त है। वह आत्मा हम स्वयं हैं, यह बिल्कुल सत्य है। इसका अनेक युक्तियोंसे विचार करके बार-बार चिन्तन करना चाहिये।

यह बिल्कुल सत्य है कि शरीर जन्मता है, शरीर अन्न-जलसे बढ़ता है, शरीर रोगी और नीरोग होता है। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सभी कर्म करते हैं, परंतु फिर भी हम यही समझते और मानते हैं कि इन सबके करनेवाले हम स्वयं ही हैं। इसीका नाम अज्ञान है। इस अज्ञानका अभ्यासद्वारा जबतक नाश न हो जाय, तबतक सुख-शान्ति किस प्रकार हो सकती है। जो दोषी होगा वह साक्षी नहीं होगा और जो साक्षी होगा, वह दोषी नहीं होगा—यह

बात सत्य है न ? प्रकृतिरूप शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धिसे सब क्रियाएँ होती हैं—यह बात भी सत्य है न ? और सभी क्रियाओंको हम देखते और जानते हैं—यह बात भी सत्य है न ? इसलिये हम कर्ता नहीं, परंतु साक्षी हैं, हम दोष करनेवाले नहीं, परंतु साक्षी हैं, फिर भी दोषी कहलाकर शिक्षा प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। इससे अधिक मूर्खता क्या हो सकती है ? संत और शास्त्र एक ही बात कहना चाहते हैं कि तुम दोषी नहीं हो, तुम तो द्रष्टा-साक्षी हो। यह निश्चय करो कि कर्ता तो प्रकृति है। तुम प्रकृतिसे परे पुरुष हो, प्रकृतिसे असङ्ग और चेतन हो। यह सत्य और विचार करके दृढ़ करने योग्य है।

कोई कहे कि शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदि कर्मके कर्ता तो अवश्य हैं, परंतु इनका प्रेरक आत्मा तो हमीं हैं। प्रकृति तो जड़ है और प्रेरक आत्मा है, इसलिये कर्मका कर्ता आत्मा कैसे नहीं है ? शरीर कर्म करता है उसे प्रेरित करनेवाली बुद्धि और मन है, जिसे शास्त्रोंमें चित्त शब्दसे कहा गया है। इसलिये यह चित्त ही कर्ममात्रका कर्ता-भोक्ता है। इस चित्तसे भिन्न आत्मा है। इस चित्तके भी हम द्रष्टा हैं। जो द्रष्टा होता है वह दृश्यसे सदा अलग होता है, यह ध्यानमें रखना चाहिये। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चारों मिलकर अन्तःकरण अर्थात् चित्त कहलाते हैं। यह चित्त (ये चारों) ही एक शरीरका परित्याग कर दूसरे शरीरमें जाता है। यह चित्त हम नहीं हैं, परंतु इससे भिन्न आत्मा हैं, ऐसा बारंबार विचारपूर्वक चिन्तन करना चाहिये।

हम आत्मा हैं, चेतनस्वरूप हैं, जन्म, जरा और मरणसे रहित हैं, प्रकृतिसे भिन्न हैं, सदा सत्स्वरूप हैं—इस प्रकार आग्रहसहित विचारपूर्वक चिन्तन करना चाहिये। जगत्में स्थावर या जङ्गम कोई भी प्राणी उत्पन्न हो, उसके शरीर और आत्मा दो होते हैं। गीतामें शरीरमें इतनी वस्तुओंका समावेश किया गया है—पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—इन सबसे बना शरीर कहलाता है। यह सब दृश्य है और हम द्रष्टा हैं। दृश्यमात्र विकारी और विनाशी होता है तथा आत्मा अविकारी और अविनाशी है। हम द्रष्टा और आत्मा हैं—यह युक्तिपूर्वक विचार करना चाहिये।

शरीरमें जो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारके नामसे अन्तःकरण कहलाता है, उन सबका नाम संक्षेपमें चित्त ही है। यह चित्त ही कर्ममात्रका कर्ता और शरीरको चलानेवाला है। यह चित्त शस्त्रोंसे मरता नहीं, उपवाससे दुर्बल नहीं होता। इस चित्तको जो भी जानकारी होती है, अनुभव होता है, उसे ही यह सत्य मानता है। बलपूर्वक वह कुछ समझता नहीं है और जहाँतक चित्त न समझे वहाँतक सब व्यर्थ।

मैं आत्मा हूँ और यह शरीर मैं नहीं हूँ—ऐसा चित्त मान ले तो फिर वह इसके अनुसार ही बर्ताव करता है। विचार, सत्संग और भोगेच्छाका त्याग—इनके अतिरिक्त इस बातको चित्त कभी नहीं समझ सकता। इसलिये विचार, सत्संग और वैराग्यका साधकको सदा सेवन करना चाहिये और परमात्माकी आराधना करनी चाहिये, परमात्माकी शरण लिये बिना कोई साधन सफल नहीं होता। यह चित्त जबतक नहीं मरता तबतक आत्मा अथवा परमात्माके दर्शन नहीं होते। इस चित्तकी वास्तविक खुराक है भोगेच्छा। भोगेच्छारूपी वासना ज्यों-ज्यों कम होती जाती है त्यों-त्यों चित्त क्षीण होता जाता है।

भोगेच्छाका शमन करनेके लिये पुराण पढ़ने चाहिये तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उपनिषद्, गीता

तथा योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंको पढ़ना चाहिये। जो लोग पुराणोंको कल्पित मानते हैं, लगता है उन्होंने ध्यानसे पुराणोंको पढ़ा ही नहीं। पुराणोंमें मृत्युलोक तथा स्वर्गलोक आदिका वर्णन है। इससे निश्चय करना चाहिये कि देव, दानव और मनुष्य अनेक हो गये, उनमेंसे बहुत-से उपाय करनेपर भी कोई अमर नहीं रहा। सबके शरीर नष्ट हो गये। दूसरी बात, अनेक समृद्धि और वैभव, शक्ति और साधन होते हुए भी आजतक भोगोंसे कोई तृप्त नहीं हुआ। तीसरी बात, चाहे जैसा लोक हो वहाँ सुख-दुःख तो हैं ही। सभी लोकोंके भोग नाशवान् हैं। इसलिये हमें भोगोंके लिये अथवा किसी लोकमें जानेके लिये परिश्रम नहीं करना चाहिये। जैसे सुख-दुःख यहाँ हैं, वैसे वहाँ भी हैं। जहाँ दुःख न हो ऐसा कोई लोक नहीं तथा जहाँ दुःख और मृत्यु न हो ऐसा कोई शरीर नहीं, शरीर तो मरेगा ही, चाहे वह प्राकृत हो या दिव्य। आत्माके अतिरिक्त नित्य रहनेवाला इस संसारमें कुछ नहीं है। जो अनित्य हो और विकारी हो, उससे शाश्वत सुख अथवा अखण्ड आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। नित्य आनन्दस्वरूप और निर्विकारी तो एक आत्मा है और आत्मा हम स्वयं हैं, यह बारंबार विचार करना चाहिये।

आत्मा शरीरमें है, फिर भी वह शरीरसे असङ्ग है, शरीरसे एकदम अलग है। शरीरके धर्मोंसे वह लिप्त नहीं होता। यह आत्मा कैसा है? जिस प्रकार बुद्धि और चित्तको निश्चय हो वैसा है। चित्तमें सत्संग, विचार और वैराग्यसे जैसा आत्माके स्वरूपका निश्चय हो उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिये। जैसे धनवान् उसे कहते हैं जो धनके लिये दूसरेसे भीख न माँगे, वैसे ही आत्मा सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। यह अच्छी तरह जाननेके पश्चात् चित्तमें सुख अथवा आनन्दके लिये किसी प्राणी या पदार्थके भोगकी कामना नहीं करनी चाहिये। साधक आत्मज्ञानमें ही संतुष्ट रहे। जिसे आत्मस्वरूपका सच्चा ज्ञान होगा वह सुखके लिये तुच्छ भोगोंमें कभी रमण नहीं करेगा। वह सदा आत्माराम ही रहता है। भोगेच्छा छोड़े बिना कभी भी आत्माराम नहीं हुआ जा सकता। आत्माराम होनेके लिये चित्तमें जो-जो कामना उठती है, उसका त्याग करना चाहिये। इन्द्रियों और उसके भोगोंसे हटाकर चित्तको आत्मामें लगाना चाहिये। यह सरलतासे नहीं होता। इसके लिये परमात्माकी रटन लगाते-लगाते अभ्यास करना पड़ेगा। चिन्तन करना चित्तका स्वभाव है। चित्त या तो भोगोंका चिन्तन करेगा अथवा परमात्माका। दोनोंमेंसे एक करेगा। इसलिये इसे परमात्माका चिन्तन सौंपे तथा सत्संग नियमितरूपसे करे। यही चित्तशान्तिका, भोग-त्यागका, मोह और अज्ञान दूर करनेका, दुःखमात्रको मिटानेका और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मुक्ति पानेका अमोघ उपाय है।

साधकको अच्छा लगे या न लगे, पर व्यवहारमें इतना तो करना ही चाहिये कि आत्मा हमारे तथा प्राणिमात्रके हृदयमें विराजमान रहता है, सबका आत्मा समान है, इसलिये—

किसीका अपमान नहीं करना चाहिये,
किसीको अपनेसे छोटा नहीं समझना चाहिये,
किसीको अप्रिय वचन नहीं कहने चाहिये,
किसीको ठगना नहीं चाहिये,
किसीके साथ कपटपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये।

इसके आचरणमात्रसे साधक स्वयं सुखी होगा और उसके व्यवहारमें आनेवाले दूसरे भी सुखी होंगे तथा उसे स्वयं आत्मदर्शन और मोक्ष प्राप्त होगा।

गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य

(परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके विचार)

मनुष्योंके लिये गाय सब दृष्टियोंसे रक्षणीय है; पालनीय है। गायसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। आजके अर्थप्रधान युगमें तो गाय अत्यन्त ही उपयोगी है। गोपालनसे, गायके संरक्षणसे, गायके दूध, घी, गोबर आदिकी प्राप्तिसे धनकी वृद्धि होती है। हमारा देश कृषिप्रधान है। अतः यहाँ खेतीमें जितनी प्रधानता बैलोंकी है, उतनी अन्य किसीकी भी नहीं है। भैंसोंके द्वारा भी खेती की जाती है, पर खेतीमें जितना काम बैल कर सकता है, उतना भैंसा नहीं कर सकता। भैंसा बलवान् तो होता है, पर वह धूप सहन नहीं कर सकता। धूपमें चलानेसे वह जीभ निकाल देता है, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहता है; कारण कि भैंसेमें सात्त्विक बल नहीं होता, जब कि बैलमें सात्त्विक बल होता है। बैलोंकी अपेक्षा भैंसे कम होते भी हैं। ऐसे ही ऊँटसे भी खेती की जाती है, पर ऊँट भैंसोंसे भी कम होते हैं और बहुत मँहगे होते हैं। खेती करनेवाला प्रत्येक आदमी ऊँट नहीं खरीद सकता। अधिकतर गो-वंशके विनाश हो जानेके कारण आजकल बैल भी मँहगे हो गये हैं, तो भी वे ऊँट-जितने मँहगे नहीं हैं। यदि घरोंमें गायें रखी जायँ तो बैल घरोंमें ही तैयार हो जाते हैं, खरीदने नहीं पड़ते। विदेशी गायोंके जो बैल होते हैं, वे खेतीमें काम नहीं आ सकते; क्योंकि उनके कंधे दुर्बल होनेसे उनपर जुआ नहीं रखा जा सकता।

गाय पवित्र होती है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी पवित्र होती है। गायके गोबर-मूत्र भी पवित्र होते हैं। गोबरसे लिपे हुए घरोंमें प्लेग, हैजा आदि भयंकर बीमारियाँ नहीं होतीं। इसके सिवाय युद्धके समय गोबरसे लिपे हुए मकानोंपर बमका उतना असर नहीं होता, जितना सीमेंट आदिसे बने हुए मकानोंपर होता है। गोबरमें जहर खींचनेकी विशेष शक्ति होती है। काशीमें कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर गया। लोग उसकी दाह-क्रिया करनेके लिये उससे गङ्गाके किनारे ले गये। वहाँ एक साधु रहते थे। उन्होंने पूछा कि 'इस व्यक्तिको क्या हुआ ?' लोगोंने कहा कि यह साँप काटनेसे मरा है। साधुने कहा कि 'यह मरा नहीं है, तुमलोग गायका गोबर ले आओ।' गोबर लाया गया। साधुने उस व्यक्तिकी नासिकाको छोड़कर उसके पूरे शरीरमें (नीचे-ऊपर) गोबरका लेप कर दिया। आधे घण्टेके बाद गोबरका फिर दूसरा लेप किया। इससे उस व्यक्तिके श्वास चलने लगे और वह जी उठा। हृदयके रोगोंको दूर करनेके लिये गोमूत्र बहुत उपयोगी है। छोटी बछड़ीका मूत्र प्रतिदिन तोला-दो-तोला पीनेसे पेटके रोग दूर होते हैं। एक संतको दमाकी बीमारी थी, उनको गोमूत्र-सेवनसे बहुत लाभ हुआ है। आजकल तो गोबर और गोमूत्रसे अनेक रोगोंकी दवाइयाँ बनायी जा रही हैं। गोबरसे गैस भी बनने लगी है।

खेतोंमें गोबर-गोमूत्रकी खादसे जो अन्न पैदा होता है, वह भी पवित्र होता है। खेतोंमें गायोंके रहनेसे, गोबर और गोमूत्रसे जमीनकी जैसी पुष्टि होती है, वैसी पुष्टि विदेशी रासायनिक खादसे नहीं होती। जैसे एक बार एक अंगूरकी खेती करनेवालेने बताया कि गोबरकी खाद डालनेसे अंगूरके गुच्छे जितने बड़े-बड़े होते हैं, उतने विदेशी खाद डालनेसे नहीं होते। विदेशी खाद डालनेसे कुछ ही वर्षोंमें जमीन खराब हो जाती है

अर्थात् उसकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है; परंतु गोबर-गोमूत्रसे जमीनकी उपजाऊ शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। विदेशोंमें रासायनिक खादसे बहुत-से खेत खराब हो गये हैं, जिन्हें उपजाऊ बनानेके लिये वे लोग भारतसे गोबर मँगवा रहे हैं और भारतसे गोबरके जहाज भरकर विदेशोंमें जा रहे हैं।

हमारे देशकी गायें सौम्य और सात्त्विक होती हैं; अतः उनका दूध भी सात्त्विक होता है, जिसे पीनेसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है और स्वभाव शान्त, सौम्य होता है। विदेशी गायोंका दूध तो ज्यादा होता है, पर उन गायोंमें गुस्सा बहुत होता है; अतः उनका दूध पीनेसे मनुष्यका स्वभाव क्रूर होता है। भैंसका दूध भी अधिक होता है, पर वह दूध सात्त्विक नहीं होता। उससे सात्त्विक बल नहीं आता। सैनिकोंके घोड़ोंको गायका दूध पिलाया जाता है, जिससे वे घोड़े बहुत तेज होते हैं। एक बार सैनिकोंने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध पिलाया, जिससे घोड़े खूब मोटे तो हो गये; परंतु जब नदी पार करनेका काम पड़ा, तब वे घोड़े पानीमें बैठ गये। भैंस पानीमें बैठा करती है; अतः वही स्वभाव घोड़ोंमें भी आ गया। ऊँटनीका दूध भी निकलता है, पर उस दूधका दही, मक्खन होता ही नहीं। उसका दूध तामसी होनेसे दुर्गति देनेवाला होता है। स्मृतियोंमें ऊँट, कुत्ता, गधा आदिको अस्पृश्य बताया गया है।

सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंमें गायकी मुख्यता है। जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि सोलह संस्कारोंमें गायका—उसके दूध, घी, गोबर आदिका—विशेष सम्बन्ध रहता है। गायके घीसे ही यज्ञ किया जाता है। स्थान-शुद्धिके लिये गोबरका ही चौका लगाया जाता है। श्राद्ध-कर्ममें गायके दूधकी खीर बनायी जाती है। नरकोंसे बचनेके लिये गोदान किया जाता है। धार्मिक कृत्योंमें 'पञ्चगव्य' काममें लाया जाता है, जो गायके दूध, दही, घी, गोबर और मूत्र—इन पाँचोंसे बनता है।

कामनापूर्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञोंमें गायका घी आदि काममें आता है। रघुवंशके चलनेमें गायकी ही प्रधानता थी। पौष्टिक, वीर्यवर्धक वस्तुओंमें भी गायके दूध और घीका मुख्य स्थान है।

निष्कामभावसे गायकी सेवा करनेसे मुक्ति होती है। गायकी सेवा करनेमात्रसे अन्तःकरण निर्मल होता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी बिना जूतीके (नंगे पैर) गोचारणकी लीला की थी, इसलिये उनका नाम 'गोपाल' पड़ा। प्राचीनकालमें ऋषिलोग वनमें रहते हुए अपने पास गायें रखा करते थे। गायके दूध, घीसे उनकी बुद्धि प्रखर, विलक्षण होती थी, जिससे वे बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी रचना किया करते थे। आजकल तो उन ग्रन्थोंको ठीक-ठीक समझनेवाले भी कम हैं। गायके दूध-घीसे वे दीर्घायु होते थे। इसलिये गायके घीका एक नाम 'आयु' भी है। बड़े-बड़े राजालोग भी उन ऋषियोंके पास आते थे और उनकी सलाहसे राज्य चलाते थे।

गोरक्षाके लिये अपना बलिदान करनेवालोंकी कथाओंसे इतिहास, पुराण भरे पड़े हैं। बड़े भारी दुःखकी बात है कि आज हमारे देशमें पैसोंके लोभसे प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें गायोंकी हत्या की जा रही है! यदि इसी तरह गोहत्या चलती रही तो एक समय गोवंश समाप्त हो जायगा। जब गायें नहीं रहेंगी, तब क्या दशा होगी, कितनी विपत्तियाँ आयेंगी—इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जब गायें समाप्त हो जायँगी, तब गोबर नहीं रहेगा और गोबरकी खाद न रहनेसे जमीन भी उपजाऊ नहीं रहेगी। जमीनके उपजाऊ न रहनेसे खेती कैसे होगी? खेती न होनेसे अन्न तथा

वस्त्र (कपास) कैसे मिलेगा ? लोगोंको शरीर-निर्वाहके लिये अन्न, जल और वस्त्र भी मिलना कठिन हो जायगा। गाय और उसके दूध, घी, गोबर आदिके न रहनेसे प्रजा बहुत दुःखी हो जायगी। गोधनके अभावमें देश पराधीन और दुर्बल हो जायगा। वर्तमानमें भी अकाल, अनावृष्टि, भूकम्प, आपसी कलह आदिके होनेमें गायोंकी हत्या मुख्य कारण है। अतः अपनी पूरी शक्ति लगाकर हर हालतमें गायोंकी रक्षा करना, उन्हें कसाईखानोंमें जानेसे रोकना हमारा परम कर्तव्य है।

गायोंकी रक्षाके लिये भाई-बहनोंको चाहिये कि वे गायोंका पालन करें; उनको अपने घरोंमें रखें। गायका ही दूध-घी खायें, भैंस आदिका नहीं। घरोंमें गोबर-गैसका प्रयोग किया जाय। गायोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही गोशालाएँ बनायी जायँ, दूधके उद्देश्यसे नहीं। जितनी गोचर-भूमियाँ हैं, उनकी रक्षा की जाय तथा सरकारसे और गोचर-भूमियाँ छुड़ायी जायँ। सरकारी गोहत्याकी सर्वांशमें बंद न करनेकी नीतिका विरोध किया जाय और सरकारसे अनुरोध किया जाय कि वह देशकी रक्षाके लिये पूरे देशमें तत्काल व्यापक एवं पूर्णरूपसे गोहत्या बंद करनेका केन्द्रिय कानून बनावे।

सौभाग्यसे अपने देशके वर्तमान प्रधान मन्त्री श्रीराजीव गाँधी विवेकशील, सौम्य एवं सद्भावपूर्ण व्यक्ति हैं, जिन्होंने भारतकी पवित्र नदी गङ्गामाताके प्रदूषणको दूर करनेका संकल्प किया है। अबतक इस ओर किसी अन्य प्रधान मन्त्रीका ध्यान नहीं गया था। देशवासी यदि अपने प्रधान मन्त्रीका ध्यान गो-माताकी रक्षाके लिये आकर्षित करेंगे तो वे जनताकी बात अवश्य सुनेंगे।

असार संसार

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

यह जग काहूको न भयो।
खाली हाथ जीव आयो अरु खाली हाथ गयो॥
करि-करि जतन बढ़ाई संपति, संग न कछू लयो।
साँच-झूठ हूँ गिन्यौ न तो हूँ सब कछु यहीं रह्यौ॥ १॥
दारा-सुतके नेह-जालमें जद्यपि रह्यो नह्यौ।
पै जब प्रान पयान कियो तब कोउ न संग गयो॥ २॥
मिल्यौ मान-संमान, तदपि जब भाग्य-भानु अथयो।
तब अपुने ही भये बिराने, उलटो अजस लह्यौ॥ ३॥
ऐसो है संसार न यासों कोऊ पार भयो।
पार भये वे ही जिन हरि-चरननमें हियो नह्यौ॥ ४॥
यासों हैं वे ही सुजान जिन जगको संग जह्यौ।
उन ही को है जनम सफल जिन हिय हरि-रस उनयो॥ ५॥

वृद्धावस्थामें धर्म ही सहायक

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

प्रस्तुत लेखके शीर्षकसे यद्यपि यह ध्वनि निकल सकती है कि वृद्धावस्थामें ही मुख्यतया धर्म सहायक है, अन्य अवस्थाओंमें धर्मके बिना भी काम चल सकता है; परंतु लेखक महोदयका यह मन्तव्य नहीं है । वस्तुतः जीवनकी सभी अवस्थाओंमें धर्मकी अनिवार्य आवश्यकता है, पर वृद्धावस्थामें जब व्यक्ति सब ओरसे निराश्रित हो जाता है तब उसे एकमात्र ईश्वर और धर्म सहायक प्रतीत होते हैं ।—[सं०]

यों तो सम्पूर्ण जीवनमें ही धर्म आपका सहायक, नियामक और प्रेरक है, जीवनके संध्याकालमें धर्म ही सच्चा मार्गदर्शक बन सकता है । यदि आपने पूर्व जीवनमें धर्मको धारण नहीं किया है तो अब भी आप उसे सच्चे अर्थोंमें ग्रहण कर सुख-शान्ति और स्वास्थ्य लाभ कर सकते हैं । आपने यौवनकालमें जिस रोमाञ्चक आनन्दका अनुभव किया था, वह पुनः शान्त और मधुररूपमें जीवनमें मिल सकता है, वातावरण जीवंत बन सकता है और नये उत्साहसे नवीन जीवन प्रारम्भ किया जा सकता है । याद रखिये, एक यही जीवन जीनेके लिये आपको मिला है, इसलिये उसके अन्तिम क्षणतक सही ढंग और पूरी सतर्कतासे जीना चाहिये ।

वृद्धावस्थाकी एक बड़ी दुर्बलता है शारीरिक और स्वास्थ्यसम्बन्धी क्षीणता । उत्तम स्वास्थ्य बनाये रखनेके लिये नियमितरूपसे ब्राह्ममुहूर्तमें उठना, प्राणायाम, व्यायाम, टहलना और सक्रियता बनाये रखनी चाहिये । जिस अङ्गसे काम लिया जाता रहेगा, वह अन्ततक स्वाभाविक रूपसे काम करता रहेगा । बहुत-से व्यक्ति पैदल नहीं चलते, तो पाँवोंकी शक्ति मारी जाती है । शरीरके प्रत्येक अङ्गसे नियमित कार्य लेना और उसकी रक्षा कर दृढ़ बनाये रखनेका नाम ही व्यायाम है । व्यायामसे कुपथ्य भी खाया हुआ भोजन पच जाता है । टहलना और सक्रिय जीवन बनाये रखना, व्यायाम करना, खुली हवामें रहना, शक्तिके अनुसार हलका व्यायाम चालू रखना चाहिये । हिंदू-संस्कृतिमें स्नानका अत्यधिक महत्त्व है । कोई भी धार्मिक कार्य करनेसे पूर्व स्नान आवश्यक है । शरीरके सारे अवयव रात-दिन काम करते हैं तो कई प्रकारके दूषित मल, पसीना, हानिकारक पदार्थ, गैस आदि शरीरसे बाहर निकलते हैं, बस इन्हींको मल-मलकर स्वच्छ करना स्नान कहलाता है । इसका उद्देश्य स्वच्छता है; क्योंकि स्वच्छतामें ही ईश्वरका निवास माना गया है ।

वृद्धावस्थामें वासनाओंका वेग समाप्त हो जाना चाहिये, सद्बुद्धि (विवेक)का विकास होना चाहिये । मनको ईश्वरमें, सत्कार्यों, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, भक्ति-पूजा-प्रार्थनामें केन्द्रित करना चाहिये । मनको सभी विषय-वासनाओंसे खींचकर ईश्वरके गुण, अध्यात्म-चिन्तन, शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये । जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वही सुखी कहा जा सकता है । मनकी चञ्चलता दूर होनी चाहिये । कहा भी है—

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ।
चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा ॥

'इन्द्रियाँ अपने-आप अपने विषयोंको ग्रहण नहीं करतीं, प्रत्युत मन ही ग्रहण करता है । आँख रूपको नहीं देखती, मन ही (चक्षुके माध्यमसे) रूपको देखता है ।'

धर्मका शरीर बाह्यरूपसे दीखनेवाली पूजा, पद्धतियाँ, मूर्तियाँ, नाना रीति-रिवाज, प्रदर्शनके चित्र, मठ, मन्दिर आदि हैं। धर्मकी आत्मा मनुष्यके मनका नियन्त्रण, वासनाओंपर संयम-स्वभावपर पूर्ण अधिकार है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरो मन उच्यते।
एतद्विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः॥

'मनुष्यके मनको ही सभी इन्द्रियोंका सम्राट् कहा गया है। सभी प्राणी इस मनके ही अधीन रहते हैं। (अतः धर्मकी पहचान कितने अंशोंमें मनका निग्रह हुआ—उससे जानना चाहिये।)'

मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत्।
न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत्॥

'(मनुष्यको चाहिये कि सुखी, संतुष्ट और शान्त रहनेके लिये अपनेको नाना स्थितियोंपर काबू करना, उनसे विचलित न होना सीखे) मनके उपराम—विषयोंसे निवृत्त होनेपर इन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्ति हो जाती है। इसके विपरीत इन्द्रियोंके विषयोंसे अलग होनेपर भी मनसे उन विषयोंका अलगाव नहीं होता। मन उन अनुभूत विषयोंको ग्रहण करता ही रहता है। अतः मनका निग्रह आवश्यक ही नहीं, वृद्धके लिये अनिवार्य भी है।'

मनको शुभ कार्योंमें बराबर (बलपूर्वक) लगाइये और निन्द्य सांसारिक विषयों, कार्यों, रुचियों, आदतों, व्यसनों, पशुवत् व्यवहारसे रोकिये तथा उच्च कर्मोंमें केन्द्रित कीजिये—

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथैवास्य प्रसिद्ध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः॥

'यह बात बिल्कुल निश्चित है कि वृद्ध मनुष्य (आयु बढ़नेके साथ-साथ) ज्यों-ज्यों अपने मनको शुभ धार्मिक कार्यों (स्वाध्याय, परोपकार, समाजसेवा, भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, सद्ग्रन्थावलोकन, पशु-पक्षी-सेवा, दीन-हीन बन्धुओंकी सेवा आदि)में लगाता है, त्यों-त्यों उसके सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। इसमें संशय नहीं है।'

वृद्धावस्थामें जीवन-साथी, मित्र, हितैषी, सहायककी अतीव आवश्यकता होती है, जो एकाकीपनको दूर कर सके। मनुष्य अकेला इस जगत्में आया है और अन्ततः उसे अकेले ही रह जाना या अन्तिम मंजिल तय करनी है। उस दुर्भाग्यपूर्ण स्थितिको झेलनेकी क्षमता विकसित करनी चाहिये। कहा भी है—

वृद्धकाले मृता भार्या बन्धुहस्तगतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बना॥

'वृद्धावस्थामें धर्मपत्नीकी मृत्यु हो जाना, भाइयोंके हाथोंमें धनका चला जाना और भोजनके लिये पराधीन हो जाना—ये तीनों आपत्तियाँ वृद्ध पुरुषोंके लिये दुःख या तिरस्कारका कारण बन सकती हैं।'

धर्म ही एकाकीपनमें संतोष देता है। यदि सद्ग्रन्थों, भजन-पूजन, सामाजिक परोपकार-कार्य, पीड़ित, दुःखी, रोगी, असहाय पिछड़े हुए जनसमुदायकी सेवा, विकास-कार्य, ग्रामीण क्षेत्रोंमें विद्या या धर्मको जाग्रत् करना, बच्चोंके स्कूल, नर्सरी, धर्मशालाएँ चलाना, मन्दिरोंकी देख-रेख, सेवा-पूजा आदि अनेक धार्मिक कार्योंमें व्यस्त रहकर एकाकीपन दूर किया जा सकता है।

अमृत-बिन्दु

लोग हमें जितना अच्छा समझते हैं, उतने अच्छे हम नहीं होते; और लोग हमें जितना बुरा समझते हैं, उससे हम अधिक बुरे होते हैं--इस वास्तविकताको समझकर 'लोग हमें अच्छा समझें'—इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये और अपनी दृष्टिमें अच्छे-से-अच्छा बननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

संयोगजन्य सुखकी लालसा जितनी घातक है, उतना सुख घातक नहीं है। शरीर बना रहे—यह भाव जितना घातक है, उतना शरीर घातक नहीं है। कुटुम्बका मोह जितना घातक है, उतना कुटुम्ब घातक नहीं है। रुपयोंका लोभ जितना घातक है, उतने रुपये घातक नहीं हैं।

शरीर संसारका अंश है और हम (स्वयं) परमात्माके अंश हैं। अतः शरीरको संसारके अर्पित कर दे अर्थात् संसारकी सेवामें लगा दे और स्वयंको परमात्माके अर्पित कर दे। फिर आज ही मुक्ति है।

परमात्माकी ओर चलनेसे संसारका कार्य (व्यवहार) भी ठीक चलता है; परंतु संसारकी ओर चलनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

कोई भी परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिका कारण नहीं है और कोई भी परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है; क्योंकि परमात्मा सम्पूर्ण परिस्थितियोंसे अतीत है।

जिसके साथ हम सदा न रह सकें और जो हमारे साथ सदा न रह सके, उसे अपना माननेसे परिणाममें रोनेके सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। अतः उसे अपना न मानकर उसकी सेवा करे।

नाशवान्‌की चाह छोड़नेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

संसार-शरीरसे अपना सम्बन्ध जोड़ना कुसङ्ग है।

सभी साधनोंका मुख्य काम है जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना।

जैसे कितने ही दिनोंका अँधेरा हो, वह एक दियासलाई जलाते ही नष्ट हो जाता है, ऐसे ही जड़ताके साथ कितना ही पुराना (अनन्त जन्मोंका) सम्बन्ध हो, वह परमात्म-प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा होते ही मिट जाता है।

समता कोई खेल-तमाशा नहीं है, प्रत्युत परमात्माका साक्षात् स्वरूप है।

सबके हितमें जिसकी प्रीति हो गयी है, उसे भगवान् प्राप्त हो जाते हैं।

साधकको भगवान्‌का चिन्तन करनेमें कठिनता इसलिये पड़ती है कि वह अपनेको संसारका मानकर भगवान्‌का चिन्तन करता है।

संतति-निरोध करवाकर केवल भोग-बुद्धिसे काममें प्रवृत्त होना महान् नरकोंका दरवाजा है।

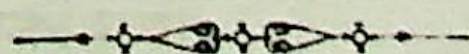
जब मनुष्य भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता मानकर उसे महत्त्व देता है तभी कामना पैदा होती है।

संतोंकी आज्ञामें जो सिद्धान्त भरा हुआ है, वह आज्ञापालकमें उतर आता है।

जब हम शरीर और संसारके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव स्वीकार कर लेते हैं, तब भगवान्‌का नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् होता है।

भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्य तो भगवान्‌के भक्त बन सकते हैं, पर भगवान्‌के अनन्य भक्त कभी भोगी और संग्रही नहीं बन सकते।

जैसे माताकी दृष्टि बालकके शरीरपर रहती है ऐसे ही भगवान् और भगवान्‌के भक्तोंकी दृष्टि प्राणियोंके स्वरूपपर रहती है।



पढ़ो, समझो और करो

(१)
भाईका स्नेह

एक परिवारमें दो भाई रहते थे । घर सम्पन्न था । किसी कारणवश दोनोंने अलग हो जाना अच्छा समझा । बँटवारा हो गया । दोनों भाई अलग-अलग कारोबार करने लगे । आपसमें बिना संदेह लेन-देन भी चलता ही था । दोनों भाइयोंमें बड़ा प्रेम था । दोनोंके लड़के बड़े हो गये और व्यापारका काम करने लगे । पर भाग्यकी बात, बड़े भाईका व्यापार उन्नत होता गया और छोटेका गिरता गया । बड़े भाईके फर्मके लगभग सत्तर हजारसे कुछ अधिक रुपये छोटेके नाम पड़ गये । हरमुखरायका फर्म फेल हो गया । रामविलासको बहुत दुःख हुआ, परंतु सारा कारोबार लड़कोंके हाथमें था । अतः वे कुछ कर न सके । जमीन-जायदाद दोनोंके पास अब भी थी। रामविलास बहुत बूढ़े हो गये थे । उनके मनमें एक दिन यह विचार आया कि 'हमारी फर्मके बहुत बड़ी संख्यामें रुपये भाई हरमुखरायसे पावने हैं । हरमुखराय भी मरणासन्न हैं और मैं भी मरणासन्न हूँ । हरमुखरायके लड़के गरीबी हालतमें हैं । रुपये यदि उनके नाम पड़े रहे और मेरे लड़कोंने हरमुखरायके लड़कोंको तंग किया या उनकी जमीन-जायदादपर मन चलाया—यद्यपि लड़के ऐसे अभी हैं नहीं—तो बहुत बुरी बात होगी।'

यह सोचकर वे अपने मनमें दृढ़ निश्चय करके एक दिन गद्दीपर पहुँचे । उनके अपने नाममें लगभग इतने ही रुपये फर्ममें जमा थे, जो मरनेपर उनके लड़कोंकी ही सम्पत्ति होती । उन्होंने जाकर मुनीमसे बही माँगी और भाई हरमुखरायके खातेके सारे रुपये ब्याज-समेत जमा करके अपने नाम खातेमें लिख दिये और हरमुखरायका खाता चुकता कर दिया । हरमुखरायको इसकी सूचना भी न दी ।

हरमुखरायको इस बातका पता भी न था । वे बड़े ईमानदार थे । अपनी जमीन-जायदाद बेच-बेचकर वे लोगोंके रुपये चुका रहे थे । बड़े भाईके ऋणको भी वे एक बड़ी जमीन तथा मकान बेचकर चुकानेकी व्यवस्था कर रहे थे । इसी बीच उन्हें पता लगा कि बड़े भाई साहबने मेरा खाता अपने रुपये देकर चुकता कर दिया है तो उनके नेत्रोंसे स्नेहके आँसू झरने लगे । वे भाईके चरणोंमें आये और बोले—'आपने ऐसा क्यों किया ? मैं तो रुपये दे ही रहा था ।' बड़े भाई रामविलासके नेत्र भी झरने लगे, उन्होंने भाईको गले लगा लिया । दोनों रोने लगे । यह दृश्य देखकर रामविलासजीके भले लड़कोंका हृदय भी द्रवित हो गया । फिरसे दोनों फर्म एक कर लिये गये और आनन्दका स्रोत बह उठा । सद्भावके वातावरणमें भ्रातृत्व धरतीपर स्वर्ग उतार देता है ।

—गोविन्दराय

(२)
फिजूलखर्चीका परिणाम

कुछ समय पहले मैं नागपुर गया था । वहाँ मैं एक गुजराती लॉजमें ठहरा था । वहीं बम्बईकी एक कम्पनीमें सेल्समैनके पदपर काम करनेवाले एक भाई भी ठहरे हुए थे । बम्बईके सेल्समैन श्रीधीरूभाईने जो अपने अनुभवकी बात बतायी, वह बहुत उपयोगी जान पड़ती है ।

'पिताजी बचपनमें ही स्वर्गवासी हो गये थे । इससे घरकी सारी जिम्मेदारी मुझपर आ पड़ी थी । उस समय मेरी आयु सत्रह वर्षकी थी । मेरे मामाका घरका कारखाना था, इससे मुझे नौकरी देनेके लिये मैंने उनसे कहा; परंतु उन्होंने 'अभी छोटी आयु है'—कहकर मुझे नहीं रखा । फिर बम्बईमें मैं एक सेल्समैनके पदपर नियुक्त हुआ । अपने एक दूसरे भाई भी बम्बईकी

एक प्रसिद्ध कम्पनीमें नौकरी करते थे। उन्हें मासिक पाँच सौ पचास रुपये वेतन मिलता था, इसके अतिरिक्त उन्हें प्रतिदिन अठारह रुपये भत्ता मिलता था। एक बार मैं कम्पनीके कामसे दिल्ली गया था। वहाँ वे भाई भी आये हुए थे। मैं दैनिक एक रुपया किरायेके कमरेमें ठहरा था, परंतु उन्होंने पाँच रुपये प्रतिदिन भाड़ेका कमरा ले रखा था। दोनोंमें बड़ा मेलजोल हो गया। परंतु उनको जब मैं पैसे उड़ाते देखता, तब मुझे बड़ा ही दुःख होता। दिल्लीमें उन्होंने मुझसे कहा—'चलो, होटलमें नाश्ता कर आयें।' मैं कपड़े पहनकर तैयार हो गया, तब उन भाईने मुझसे कहा—'इस तरहके कपड़े पहननेवालोंको होटलमें घुसने नहीं दिया जाता। उस होटलमें जानेके लिये अच्छी-से-अच्छी पोशाक चाहिये।'

मैंने कहा—'इससे अच्छे कपड़े मेरे पास नहीं हैं।' तब उन्होंने मुझे अपने अच्छे कपड़े पहनाये और नेकटाई गलेमें बाँधी। हम दोनों 'अपटूडेट' होकर होटलमें पहुँचे। मैंने अपने जीवनमें कभी न देखी हुई व्यवस्था वहाँ देखी। वहाँ हमलोगोंने आइसक्रीम, चाय आदि खाने-पीनेके साथ ही नाश्ता भी किया। एकाध घंटा वहाँ बीता। फिर होटलका बिल आया। हाथमें लेकर मैंने देखा साढ़े सत्रह रुपयेका बिल था। मैंने तुरंत ही बिल उन भाईको दे दिया। मेरी जेबमें तो सम्भवतः इतने पैसे भी न थे। उन भाईने बिलके साथ ही डेढ़ रुपया नौकरको इनाम दिया। इस प्रकार उन्होंने उन्नीस रुपये चुकाये। तदनन्तर हमलोग अपने कमरोंमें वापस आ गये।

इस बातको छः-सात महीने बीते होंगे कि मैं घूमता-घामता कलकत्ते पहुँचा और वहाँ 'गुजराती समाज'के मकानमें गया। वहाँ मैंने उन्हीं भाईको देखा। पर यह क्या? क्या ये वे ही भाई हैं, जो मुझे दिल्लीमें मिले थे? मनमें शङ्का हुई। आँखोंने बार-बार सावधानीसे देखकर निश्चय किया कि 'हैं तो वे ही।' अन्तर इतना था कि आज न तो उस दिन-सरीखे कपड़े थे न सिरमें तेल ही था। आँखोंमें उस दिनकी मादकताके स्थानपर दरिद्रता भरी थी। गोरे मुखपर श्यामता छा रही थी। मैंने पूछा—'क्यों भाई! यों निस्तेज-से कैसे हो रहे हैं? प्रथम श्रेणीके लॉजमें फर्स्ट क्लास किरायेके कमरेमें ठहरनेवाले आप यहाँ कैसे पड़े हुए हैं?'

उन्होंने धीरेसे कहा—'भाई! वह नौकरी छूट गयी! अब मैं बेकार हूँ। कहीं भी काम नहीं मिलता।'

मैंने कहा—'आप इस समय दुःखी हैं, इसलिये मेरा आपसे कुछ कहना उचित तो नहीं है, तो भी मैं कहता हूँ कि उस नौकरीके समय आपकी आमदनी एक हजार रुपये मासिक थी। उस समय आपने आधे रुपये बचाये होते तो भी आज आप पचीस हजार रुपयेकी बचत कर सकते थे और उन रुपयोंसे आज चाहे जैसा रोजगार कर सकते तथा इस बेहाल परिस्थितिसे बच जाते।'

उन्होंने कहा—'अब तो जो होना था सो हो चुका। इस समय तो आप मुझे पचास रुपये उधार दीजिये।'

मेरे पास केवल पैंतीस रुपये थे और मुझे पटना जाना था। इसलिये मैं उनको उनमेंसे केवल पाँच रुपये दे सका और वहाँसे चल पड़ा। एकाध महीनेके बाद मुझे समाचार मिला कि उन भाईने जगत्से ऊबकर संसार छोड़ दिया।

उन भाईकी यह बात सुनकर मेरे मनमें आया कि 'समाजका अधिकांश आज भोगविलासकी अँधेरी गुफासे बाहर निकलनेके बदले अधिक-से-अधिक नीचे गहराईमें ही उतरता जा रहा है।'

—जयन्तीलाल लवजी भाई पुजारी

(३)

परम प्रभुकी अहैतुकी कृपा

घटना उस समयकी है जब मेरी आयु दस वर्षकी थी। मैं दोपहरकी स्कूल-छुट्टीसे घर आकर अपने एक सहपाठी श्रीव्रजभूषणदासजी बड़ोन्याके यहाँ खेलने चला गया। वहाँ जाकर हम दोनों साथी मकानकी दूसरी मंजिलपर खेलने लगे। कुछ ही समय बाद मेरे साथीने कहा कि वहाँ कोठरीमें रखी काष्ठकी एक खाली पेटीमें हम दोनों छिपकर देखें। आगे जब भी हमलोग अन्य साथियोंके साथ छिपा-छिपीका खेल खेलेंगे तो इस पेटीमें छिप जाया करेंगे, जिससे अन्य साथी हमें ढूँढ़ न सकेंगे। हम दोनों उस पेटीमें बैठ गये। उसमें हम दोनों कठिनाईसे ही बैठ या लेट सकते थे। हमने ऊपरका ढक्कन नीचे गिरा लिया। फलस्वरूप पेटीकी इमलिया कुन्दामें लग गयी। ढक्कन ऊपर उठानेपर जब वह नहीं खुला, तब मुझे एहसास हुआ कि अब वह पेटी खुलनेकी नहीं। अब हम दोनों घबराये और रोने लगे।

उसी समय मुझे बुजुर्गोंसे सुनी यह बात याद आयी कि संकट पड़नेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका नामस्मरण करना चाहिये। परम प्रभु अवश्य ही संकटसे रक्षा करते हैं। मैंने अपने साथीसे कहा कि अब हमें भगवान् श्रीरामका नामस्मरण करना चाहिये। हम दोनोंने श्रीरामका नाम जपना आरम्भ कर दिया। मौसम गर्म था। हम दोनों पसीनेसे भीग गये। पेटीमें साँस भी कठिनाईसे ले पा रहे थे। मुँह प्यास लगनेके कारण सूखने लगा। हमने पसीना चाटकर मुँह गीला रखा। कुछ देर बाद मेरा साथी बेहोश हो गया। मैं अर्ध-बेहोशीकी हालतमें भगवान् रामके नामका जप करता रहा। जिस कमरेमें वह पेटी रखी हुई थी, वहाँ उस घरके सदस्योंका शाम या रातको पहुँचनेका कोई कारण न था। मैंने सोच लिया कि अब हम दोनोंकी मृत्यु निश्चित है।

अब प्रभुकी अहैतुकी कृपाका चमत्कार देखिये। शामको श्रीबड़ोन्याजीके यहाँ स्थानीय निवासी साहू खली बेचने आया। दूकानमें मौजूद परिवारके एक अत्यन्त वृद्ध सदस्यने, जिन्हें घरमें सब दाऊ कहते थे, खली खरीदनेकी अनिच्छा व्यक्त की। इसपर साहूने कहा कि मुझे पैसोंकी अत्यधिक आवश्यकता है, आपको मैं कम भावपर खली देनेके लिये राजी हूँ। श्रीदाऊने खली तुलवा ली, परंतु कहा कि पैसा घरके अन्य सदस्योंके घूमकर आनेपर ही दूकानसे मिल सकेंगे। इसपर साहूने अपनी अत्यधिक आवश्यकता पैसोंकी पुनः दुहरायी। तब श्रीदाऊने कहा कि मैं ऊपर जाकर देखता हूँ, मेरे नातीने कुछ पैसे जोड़े हैं, उनमेंसे पैसे लाकर देता हूँ। फलतः वे ऊपर जानेके लिये सीढ़ियोंपर चढ़ने लगे। मेरे कानोंमें धीमी-धीमी आवाज आयी कि सीढ़ियोंसे चढ़कर कोई ऊपर आ रहा है। अतः मैंने पेटीके ऊपरी हिस्सेमें जोरोंसे पैर मारना आरम्भ किया। यद्यपि श्रीदाऊ कानोंसे कुछ कम सुनते थे, परंतु ईश्वरकी अनुकम्पासे पेटी बजनेकी आवाज उनके कानोंमें सुनायी पड़ गयी। उन्होंने पेटीके पास आकर ढक्कन खोला। हमें एक-एक कर पेटीसे बाहर निकाला। हम दोनोंकी जान बचाने हेतु साहू साक्षात् ईश्वर बनकर आये थे।

पश्चिमी सभ्यताके रंगमें रँगे आजके भौतिकतावादी लोग इस घटनाको सहज संयोग कह सकते हैं, परंतु मैं आज भी इस घटनाको, जिसमें हमदोनों साथियोंके प्राणोंकी रक्षा हुई, परम प्रभुकी अहैतुकी कृपा ही मानता हूँ और रामनामका स्मरण निरन्तर करते रहनेमें पूर्ण विश्वास करता हूँ। इस घटनाने बाल्यावस्थासे ही मेरे जीवनमें राम-नामके स्मरणमें अटूट आस्था प्रदान कर दी है।

—दयाशंकर स्वर्णकार



मनन करने योग्य

सुख-दुःखका साथी तोता

(१)

व्याधाने जहरसे बुझाया हुआ बाण हरिणोंपर चलाया। निशाना चूककर बाण एक बड़े वृक्षमें धँस गया। जहर सारे वृक्षमें फैल गया। पत्ते झड़ गये और वृक्ष सूखने लगा। उस पेड़के खोखलेमें बहुत दिनोंसे एक तोता रहता था। इसका पेड़से बड़ा प्रेम था। अतः पेड़के सूखनेपर भी वह उसे छोड़कर नहीं गया। उसने बाहर निकलना छोड़ दिया और चुगा-पानी न मिलनेसे वह सूखकर काँटा हो गया। वह धर्मात्मा तोता अपने साथी वृक्षके साथ ही अपने प्राण देनेको तैयार हो गया। उसकी इस सहानुभूति, धीरज, सुख-दुःखमें समता और त्यागवृत्तिका वातावरणपर बड़ा असर हुआ। देवराज इन्द्रका उसके प्रति आकर्षण हुआ। इन्द्र आये। तोतेने इन्द्रको पहचान लिया। तब इन्द्रने कहा—'प्यारे शुक! इस पेड़पर न पत्ते हैं, न कोई फल। अब कोई पक्षी भी इसपर नहीं रहता। इतना बड़ा जंगल पड़ा है, जिसमें फल-फूलोंसे लदे हरे-भरे हजारों सुन्दर वृक्ष हैं और उनमें पत्तोंसे ढके हुए रहनेके लायक बहुत खोखले भी हैं। यह वृक्ष तो अब मरनेवाला ही है। यह अब फल-फूल नहीं दे सकता। इन बातोंपर विचार करके तुम इस ठूठे पेड़को छोड़कर किसी हरे-भरे वृक्षपर क्यों नहीं चले जाते?'

धर्मात्मा तोतेने सहानुभूतिकी लंबी साँस छोड़ते हुए दीन वचन कहे—'देवराज! मैं इसीपर जन्मा था, इसीपर पला और इसीपर अच्छे-अच्छे गुण भी सीखे। इसने सदा बच्चेके समान मेरी देख-रेख की, मुझे मीठे फल दिये और वैरियोंके आक्रमणसे बचाया। आज इसकी बुरी अवस्थामें मैं इसे छोड़कर अपने सुखके लिये क्यों चला जाऊँ? जिसके साथ सुख भोगे, उसीके साथ दुःख भी भोगूँगा। मुझे इसमें बड़ा आनन्द है। आप देवताओंके राजा होकर मुझे यह बुरी सलाह क्यों दे रहे हैं? जब इसमें शक्ति थी, यह सम्पन्न था, तब तो मैंने इसका आश्रय लेकर जीवन धारण किया, आज जब यह शक्तिहीन और दीन हो गया, तब मैं इसे छोड़कर चल दूँ। यह कैसे हो सकता है?'

तोतेकी मधुर-मनोहर प्रेमभरी दृढ़ वाणी सुनकर इन्द्रको बड़ा संतोष हुआ। उन्हें दया आ गयी। वे बोले—'शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो।' तोतेने कहा—'आप वर देते हैं तो यही दीजिये कि यह मेरा प्यारा पेड़ पूर्ववत् हरा-भरा हो जाय।' इन्द्रने अमृत बरसाकर पेड़को सींच दिया। उसमें फिरसे नयी-नयी शाखाएँ, पत्ते और फल लग गये। वह पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया और वह तोता भी अपने इस आदर्श व्यवहारके कारण आयु पूरी होनेपर देवलोकको प्राप्त कर लिया।

स्वार्थ-त्याग

(२)

इंग्लैंडकी रानी एलिजाबेथके समय इंग्लैंडकी लड़ाईमें प्रसिद्ध लेखक और वीर सर फिलिप सिडनी घायल हो गये थे और प्यासके मारे छटपटाते हुए पड़े थे। कुछ सिपाहियोंने बहुत दूरसे थोड़ा-सा जल लाकर उन्हें दिया। उन्होंने जलका प्याला मुँहके सामने किया ही था कि उनकी दृष्टि बगलमें पड़े हुए एक घायल सिपाहीपर पड़ी। वह बड़ी आतुर दृष्टिसे जलके प्यालेकी ओर देख रहा था। सर फिलिप सिडनीने बड़ी प्यास लगी होनेपर भी जलकी एक बूँद नहीं पी और पूरा प्याला सिपाहीको देकर कहा—'भाई! इस समय मेरी अपेक्षा तुम्हें जलकी अधिक आवश्यकता है।' यह है उच्चकोटिका स्वार्थ-त्याग! धन्य!



स्वास्थ्य-रक्षाके प्राकृतिक नियम

(लेखक—श्रीमूलचन्दजी गोयल)

मानव-शरीर परमात्माकी श्रेष्ठतम रचना है, पर स्वस्थ रहनेपर ही पुरुषार्थोंका साधक बन सकता है। अनियमित आहार-विहार एवं प्रकृतिके नियमोंके उल्लङ्घनसे रोग उत्पन्न होते हैं। जिन पञ्चतत्त्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) से शरीर बना है और जिनके बिना शरीरका चलना असम्भव है, उनके समुचित उपयोगसे व्याधिको रोका तथा कुछ अंशोंतक हटाया भी जा सकता है। रोगीको परमात्माकी इस महत्तम रचनाकी प्रत्येक स्थितिमें मङ्गल विधानका दर्शन करना सीखकर पञ्चतत्त्वोंका युक्तिपूर्वक उपयोग करना चाहिये।

दीर्घायु और आरोग्यके लिये कतिपय स्वास्थ्य-सूत्र

१—भोजन अच्छी तरह भूख लगनेपर प्रार्थनापूर्वक भगवान्‌को अर्पितकर चबा-चबाकर प्रसन्नचित्तसे करना चाहिये। भोजनमें गुण-रुचिसे तुष्टि-पुष्टि प्राप्त होती है।

२—भोजनमें ताजे फल, सलाद, अङ्कुरान्न कम-से-कम ६० प्रतिशत भाग तो अवश्य रखें।

३—परिष्कृत खाद्य—चीनी-मैदा-घीकी बनी वस्तुएँ न खायें। चाय, काफी, तम्बाकू, बीड़ी आदि उत्तेजक घातक व्यसनोंसे मुक्त रहें।

४—यथासाध्य खानेके एक घंटे बाद ही पानी पीयें।

५—प्रातःकालकी शुद्ध हवामें घनी आक्सीजन (जीवनीय) वायुका, सौम्य सूर्यकिरणोंका, खुले आकाश-का पूरा लाभ उठायें। नित्य कुछ-न-कुछ शारीरिक व्यायाम, योगासन, सैर, तैरना हमारी दिनचर्यामें अवश्य होने चाहिये।

६—रोगको पाश्चात्त्य पद्धतिसे निर्मित दवाओंसे दबानेसे ही जीर्ण रोग बनते हैं। सामान्य सामयिक लघु रोगको प्रकृतिका परिवर्तन मानकर उसका सहयोग करें। वैसे नीतिशास्त्र एवं आयुर्वेदसे रोगको लघु मानकर प्रारम्भमें ही चिकित्सा कर देनेका विधान है—'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।' अतः उपवास, विश्राम, शुद्ध वायु, प्राणायाम एवं जलादि चिकित्सा रोगोंकी यथासम्भव अवश्य करनी चाहिये।

७—यथासम्भव खुले आकाशके नीचे ही सोयें। यथासाध्य हवादार स्थानमें रहना चाहिये, जहाँ सूर्य-किरणें और शुद्ध हवा ठीकसे प्रवेश करती हों।

८—चिन्ता और भयसे मुक्त रहनेके लिये जीवनमें निष्काम सेवा, सत्संग, स्वाध्यायको दैनिक जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग बना लेना चाहिये।

९—सप्ताहमें या उभय पक्षोंमें एक दिन उपवास या फल अथवा रसपर रहकर पाचन-शक्तिको आराम देना चाहिये। (एकादशीव्रतसे उक्त लाभके सिवा भगवत्प्रीति भी प्राप्त होती है।)

१०—इन्द्रिय, शरीर, पेट और मनके विश्रामसे व्याधियोंसे छुटकारा मिलता है।

सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

(१) 'कल्याण'का ५९वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशित हो जानेके पश्चात् यह वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी ६०वें वर्षके विशेषाङ्क-(जनवरी १९८६के प्रथम अङ्क-) के रूपमें **'संकीर्तनाङ्क'** प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ है। कलियुगमें मनुष्यके कल्याणका मुख्यतम सर्वसुलभ और सरलतम साधन श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन ही है—**'कलिजुग केवल नाम अधारा'** और **'कलौ केशवकीर्तनात्'**—भारतीय-संस्कृतिके इस शास्त्रसम्मत लोकोद्धारक एवं सर्वमान्य सिद्धान्तका समादर करते हुए आजके अशान्त विश्व-वातावरण एवं विशेषतः भारतकी वर्तमान विषम परिस्थितियोंमें श्रीभगवन्नामके लोक-कल्याणकारी महत्त्वको स्वीकार करते हुए 'कल्याण'के अग्रिम विशेषाङ्कके रूपमें **'संकीर्तनाङ्क'** जनकल्याणार्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है। इसमें श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनसे सम्बद्ध गूढ़ रहस्यों, चमत्कारिक प्रभावों, सङ्कीर्तनसे श्रेयःस्वरूप भगवत्प्राप्ति करने और करानेवाले संत-महात्माओं तथा भगवद्भक्तोंके चरित्रोंकी विशेषताओं एवं विलक्षणताओंके साथ ही सङ्कीर्तनकी सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सार्वजनीन और समसामयिक उपयोगिताका अन्यतम सरल साधनके रूपमें दिग्दर्शन—मूल्याङ्कन करानेवाला अपने प्रतिपाद्य विषयका यह विशेषाङ्क अनुपम मार्गदर्शक होगा।

(२) कागज तथा छपाई आदिके उपकरणोंमें पिछले दो-तीन वर्षोंसे हो रही निरन्तर मूल्यवृद्धि, वेतनवृद्धि एवं डाकव्यय आदिके बढ़ते हुए अन्य खर्चोंके कारण 'कल्याण'का लागत मूल्य बहुत अधिक बढ़ गया है। इस परिस्थितिमें सभी बातोंपर विचारकर, न चाहते हुए भी **'कल्याण'के वार्षिक-मूल्यमें ६.०० (छः रुपये) की वृद्धि विवशतया करनी पड़ी है। अतः अब आगामी वर्ष-(जनवरी १९८६) से 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य २४.००के स्थानपर ३०.०० (तीस रुपये, डाकखर्च सहित) निश्चित किया गया है।** अब विदेशके लिये वार्षिक-शुल्क ८०.०० (अस्सी रुपये—भारतीय मुद्रा) या ५ पौण्ड (पाँच पौण्ड—विदेशी-मुद्रा) है। आशा है, 'कल्याण'प्रेमी सभी महानुभाव, परिस्थितिजन्य हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए इसे कृपापूर्वक सहर्ष स्वीकार करेंगे।

(३) ग्राहकोंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें संलग्न है। अतः सभी ग्राहकसज्जन मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश इत्यादि सुस्पष्ट और सुवाच्य बड़े अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। **पुराने ग्राहक हों तो अपनी शुद्ध ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें।** ऐसा करनेसे ग्राहक-सज्जनोंको अङ्कोंका प्रेषण सही, शीघ्र, सुगम और सुरक्षित होगा। मनीआर्डर-कूपनपर ग्राहक-संख्या अङ्कित होने अथवा 'पुराना' या 'नया-ग्राहक' न लिखनेकी दशामें आपकी सेवामें पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० और नवीन ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्री चली जायगी, जिससे हमारे प्रिय ग्राहक-सज्जनों तथा कार्यालय—दोनोंको अतिरिक्त खर्च तथा व्यर्थ समय नष्ट होनेसे असुविधा होगी; अतः अपनी तथा 'कल्याण'-व्यवस्थाके सुविधार्थ-(व्यर्थ खर्च तथा समयकी बचतके लिये-) मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या कृपया अवश्य लिखें।

(४) गत वर्षकी तरह विशेषाङ्क बचनेपर ही ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें ३४.०० (चौंतीस रुपये) की वी० पी०- पी० द्वारा भेजे जा सकेंगे, किंतु जिन सज्जनोंसे मनीआर्डरद्वारा अग्रिम शुल्क-राशि-३०.०० प्राप्त हो जायगी, उन्हें विशेषाङ्क रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जायगा। अतः ४.०० (चार रुपये) के अतिरिक्त अधिभारसे बचनेके लिये सभी प्रेमी ग्राहकोंसे अनुरोध है कि वे वी० पी० की प्रतीक्षामें न रहकर अपनी वार्षिक शुल्क-राशि ३०.०० (तीस रुपयेमात्र) मनीआर्डरद्वारा ही अग्रिम भेजें। ऐसा करनेसे वे अपना विशेषाङ्क शीघ्र, सुरक्षित और निरापद प्राप्त कर सकेंगे।

पंजीकृत संख्या—जी० आर०-१३

(५) आगामी वर्षका विशेषाङ्क—'संकीर्तनाङ्क' समयपर प्रकाशित हो, एतदर्थ हम सप्रयत्न भरसक सचेष्ट हैं। भगवत्कृपासे विशेषाङ्कके मुद्रण-कार्यका शुभारम्भ हो चुका है। यदि कोई अपरिहार्य कारण या अप्रत्याशित परिस्थिति उत्पन्न न हुई तो सम्भवतः इस बार विशेषाङ्क यथासमय—जनवरी—१९८६तक प्रकाशित हो सकता है।

(६) सजिल्द विशेषाङ्क बनानेमें असुविधा है; अतः सजिल्दके लिये मूल्यराशि कृपया न भेजें।

(७) कतिपय कारणोंसे 'कल्याण' की 'आजीवन-ग्राहक-योजना' समाप्त की जा रही है, अतएव ३१ अक्टूबर, १९८५ तक जिन महानुभावोंका आजीवन-शुल्क कार्यालयको प्राप्त हो जायगा, उन्हें ही आजीवन सदस्य बनाया जायेगा। इस अवधिके पश्चात् तदर्थ भेजी हुई राशि प्रेषकको वापस कर दी जायगी।

(८) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक पोस्टकार्ड लिखकर कार्यालयको सूचना अवश्य दे दें, जिससे उनकी ग्राहक-संख्या निरस्त की जा सके और वी० पी० भेजनेकी सम्भाव्य स्थितिमें 'कल्याण'को डाकखर्चकी व्यर्थ हानि न उठानी पड़े।

व्यवस्थापक—'कल्याण'

जयपुरके 'कल्याण'-ग्राहकोंको एक आवश्यक सूचना

जयपुर-निवासी 'कल्याणके ग्राहकों' की सुविधाकी दृष्टिसे गतवर्षकी तरह आगामी वर्ष—(सन् १९८६ ई०में) भी जयपुरसे ही विशेषाङ्क वितरित करनेका निश्चय किया गया है। जयपुर-स्थित वितरणकेन्द्रपर विशेषाङ्क पहुँचनेके लगभग एक सप्ताह बाद उन सभी ग्राहकोंको वितरण आरम्भ कर दिया जाता है, जिन महानुभावोंद्वारा 'कल्याण'के निमित्त वार्षिक-शुल्क-राशि वहाँ अग्रिम—(पहलेसे ही) जमा करायी हुई होती है। अतः जयपुर-निवासी 'कल्याण'के सभी नये-पुराने इच्छुक ग्राहक-सज्जनोंसे निवेदन है कि वे कल्याणके आगामी-वर्ष-(सन् १९८६ ई०) के लिये अपना वार्षिक-शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) मात्र हमारे कार्यालयको सीधे न भेजकर वहाँ जयपुरमें ही (हमारे वितरण-केन्द्रके) निम्नाङ्कित पतेपर यथाशीघ्र जमा कराके कृपया तदर्थ रसीद प्राप्त कर लें।

जयपुरके ग्राहकोंको वी० पी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेकी व्यवस्था नहीं है। आगामी वर्ष (जनवरी १९८६) से जयपुरके ग्राहकोंको मात्र विशेषाङ्कका ही वितरण वहाँके वितरण-व्यवस्था-केन्द्रद्वारा होगा; किंतु आगेके सभी साधारण-(फरवरी १९८६ से दिसम्बर १९८६ तकके मासिक-) अङ्कोंका प्रेषण कतिपय कारणोंसे इस बार सीधे 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुरसे ही करनेका निश्चय किया गया है। सुविधाके विचारसे जयपुरस्थ-वितरण-केन्द्रके निकटवर्ती-(क्षेत्र और मुहल्ले-टोलेके निवासी-) ग्राहक-सज्जन यदि अपने साधारण अङ्क उक्त वितरण-केन्द्रसे ही लेना चाहेंगे तो इसकी पूर्व सूचना हमारे गोरखपुर 'कार्यालय' एवं उक्त 'वितरण-केन्द्र'—दोनोंको दी जानी चाहिये।

ग्राहक महानुभावोंको कल्याण-वितरण करनेवाले किसी भी व्यक्तिको गीताप्रेसकी पुस्तकोंके लिये कोई धनराशि नहीं देनी चाहिये। प्रत्युत पुस्तकें सीधे 'वितरण-केन्द्र'से ही खरीदनी चाहिये।

जयपुरमें हमारे वितरण-व्यवस्था-केन्द्रका पता इस प्रकार है—

श्रीसुन्दरम् एजेन्सीज, दूरभाष नं० ४३३७९
बुलियन-बिल्डिंगके अन्दर, हल्दियोंके रास्तेके पहले चौराहेपर,
जौहरी बाजार, जयपुर—३०२००३

(रविवारको साप्ताहिक अवकाश रहेगा।)

व्यवस्थापक—'कल्याण' पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५